उपदेशामृत

त्र
रूप

पर
स्वरूप

उपाय
स्वरूप

फल
स्वरूप

विरोधी
स्वरूप

श्रीमद् रामहर्षणदासजी महाराज

ॐ

※ श्री रसिक जनवल्लभाभ्यां नमः ※

※ श्री रसाचार्येभ्यो नमः ※

उपदेशामृत

श्रीमद् रामहर्षण दास

स्वामिना प्रणीतं

श्री रामहर्षण कुञ्ज, नया घाट, श्री अयोध्या

उपदेशामृत

लेखक :
श्रीमद् रामहर्षण दास जी

प्रकाशक :
श्रीयुत कमल कुमार बाजोरिया
८ बी. पाम प्लेस, बालीगंज
कलकत्ता

द्वितीय संस्करण : ११००
श्री गुरुपूर्णिमा सम्वत् २०५१, सन् १९९४ ई०

न्योछावर : १७ रुपया मात्र

मुद्रक :
श्री वैष्णव प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद
दूरभाष ६०७४६३



अनन्त श्री विभूषित प्रेममूर्ति पंचरसाचार्य

श्री स्वामी रामहर्षणदास जी महाराज

श्री अवध धाम

"श्रीमद्रामहर्षण देवो विजयतेतिराम"

निगमागमों के महोदधि, पुराणेतिहासों के रत्नाकर के मध्य प्रतिष्ठित, वैदग्ध के महामन्दराचल में प्रतिष्ठित, स्वयं वेदान्तवेद्य परम करुणा-वरुणालय, सर्वलोक-शारण्य प्रभु ने ही, महा मन्थन का नाट्य किया स्वयं अमृत होते हुये भी उस मन्थन से उद्भूत दिव्यामृत के भोक्ता बने। प्रभु के इस अभिनव-अवतार की ही आचार्य, सद्गुरु, परम गुरु एवं रसिक संज्ञा से अभिव्यक्ति हुई। प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन रससिद्ध महापुरुष की वाणियों के संग्रह हैं, उनके आचार्य स्वरूप का वैभव वाणी का विषय नहीं है।

अहा......... ! श्रीराम प्रेम ही जिनका राज्य-सिंहासन; मन्त्र रत्न ही जिनका राजमुकुट; अष्टाक्षर शरण-मंत्र ही जिनका राजछत्र, चरम मन्त्र ही जिनके व्यजन और चामर; श्री राम-पादुकाओं का अर्चन ही जिनका महाधन (राजकोष) रोमांच, पुलक और नैन-नीर ही जिनके श्री अंगालंकार तथा नामामृत, रूपामृत ही जिनका षट्रस राजभोग है, ऐसे कलिपावनावतार, सरकार ही हमारे आचार्य सम्राट हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ में, आचार्य प्रभु से समय-समय में अपने आश्रितों एवं स्नेह भाजनों के नाम जो उपदेश, पत्रों के माध्यम से मौन काल में संकेत सूत्रों के रूप में उपलब्ध हुये, उन्हें ही एक क्रम से संग्रहित करने का प्रयास हुआ है। वह संग्रह धीरे-धीरे ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में आ गया। ग्रन्थ में वैष्णव दर्शन के अंगभूत, जीव स्वरूप, परमात्म-स्वरूप, साधन (प्राप्ति उपाय) प्राप्ति-विरोधि-तत्व, प्राप्ति-फल, आचार्य-स्वरूप, शिष्य-स्वरूप, साधक के आचार प्रभृति विविध विषयों का, विविध-अधिकारियों को आधार स्वीकार कर विवेचन हुआ है। ग्रन्थ के एक एक शीर्षकों के माध्यम से मानों आचार्य के अहैतुक अनुग्रह-वलाहक- बिन्दुओं का ही प्रपन्न हृदय-क्षेत्र में अमृत वर्षण हुआ है। एक-एक सूत्र में न केवल शास्त्रीय वैदग्ध है, अपितु स्वयं की साधना का प्राण और अपने विश्वास का अमृत-ओज भी समाहित है। उपदेशामृत-सिन्धु के ये बिन्दु परमार्थ-कामियों के जीवन और प्रकाश बिन्दु होंगे, यह आशा नहीं अन्तर का विश्वास है।

पुस्तक के लेखन से प्रकाशन तक जिन जिन भाग्य भाजनों ने अपने तन-मन और धन का विनियोग किया और आज इस रूप में प्रस्तुत हो पाने का अवसर दिया, उनके प्रति हम सभी मूक कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए, अपने मंगल मूर्ति गौर-विग्रह आचार्य प्रभु के ही पाद-पद्मों में प्रणति अर्पित करते हैं। नाथ ! आप ही कर्ता हैं, आप ही कारयिता हैं, ऐसी कृपा करें कि हम में आपसे विभिन्न किसी "स्व" का कभी उद्भव एवं उदय न हो।

श्री चरणयोर्दासानां दासः
अवधकिशोर दासः

अनुक्रमणिका

।। श्री सीतारामाभ्यां नमः ।।

१. कल्याण कामियों का पन्थ वही है जिसे वेद एवं वेद विद् संत निर्दिष्ट करते हैं। श्रुति और साधु से असम्मानित मार्ग कण्टकाकीर्ण दुखद और अन्धकार की ओर ले जाने वाला होता है।

२. सम्पूर्ण श्रुतियों, स्मृतियों एवं इतिहास-पुराणों तथा सन्तों की वाणियों में सर्वत्र अर्थ पंचक तत्व का ही विवेचन दृष्टिगोचर होता है।

३. स्व स्वरूप, पर स्वरूप, उपाय स्वरूप, फल स्वरूप और विरोधी स्वरूप ही अर्थ पंचक के नाम से मनीषियों द्वारा पुकारे जाते हैं।

स्व स्वरूप (जीवात्मा का स्वरूप)

१. स्व-स्वरूप सच्चिदानन्दमय, ज्योतिर्मय, नित्य, मुक्त शुद्ध, बुद्ध, असंग और अणु है। वह स्वभाव से परब्रह्म परमात्मा का शेषभूत दास है और उसी परमेश्वर के परतंत्र है जिसे विद्वान परब्रह्म, परमात्मा, भगवान, ओम्, राम, कृष्ण नारायण, नृसिंहादि नामों से सम्बोधित करते हैं।

२. परमतत्व सर्वेश्वर के मुखाम्भोज के विकास के लिए सकल विधि कैंकर्य करने की अर्हता आत्मा का स्वभाव है।

३. जीव ईश्वर का अंश है, शेष है, भोग्य है और रक्ष्य है।

४. जीव ईश्वर का शरीर है अस्तु, ईश्वर से अलग आत्मा का स्वरूप नहीं है अर्थात् ईश्वर के स्वरूप के भीतर ही जीव

का स्वरूप है। परमात्मा से पृथकता का अनुसन्धान करने पर जीव में 'स्व' नाम का कोई तत्व शेष नहीं रहता।

५. जीवात्मा-अनन्य शेषत्व, अनन्य भोगत्व और अनन्य रक्षकत्व के आकार वाला है।

६. जीव स्वरूप-स्वभाव से स्व और अन्य के प्रयोजन वाला नहीं होता, वह परमेश्वर के प्रयोजन के लिए होता है, इसीलिए विद्वानों ने जीव को अनन्य प्रयोजनाधिकारी कहकर उसके स्वभाव का संकेत किया है।

७. ईश्वर के प्रति प्रपत्ता बनकर प्रेम करना एवं कृतज्ञता प्रकट करना चेतन कार्य है।

८. ईश्वर के संतोष को देखकर स्वयं प्रसन्न होना जीवात्मा का व्यापार है।

९. भगवत् कैंकर्य के अतिरिक्त अन्य किसी में रुचि न होना निरूपित स्वरूप की विशेषता है।

१०. चार वर्ण, चार आश्रम, तीन अवस्था, देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से सर्वथा परे और विलक्षण आत्म स्वरूप है।

११. जीव न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है।

१२. प्रकृति सम्बन्ध होने पर भी आतमा में विकृति नहीं आती वह सदा एकरस बना रहता है।

१३. चेतन में 'अहं' और 'मम' औपाधिक रूप से प्रतीत होते हैं यथार्थ में नहीं जैसे स्फटिक मणि स्वरूप में स्थित रहती हुई भी लाल, नीले, पीले पदार्थों की सकासता से तद्रूप दृष्टि-गोचर होती है।

१४. जीवात्मा प्रकृति-सम्बन्ध से प्रकृतिजन्य सुख-दुख को न भोगता हुआ भी भोक्ता-सा प्रतीत होता है इसमें उसका अज्ञान ही कारण है जो अविद्या माया से प्रादुर्भूत हुआ है।

१५. जीवात्मा ईश्वर के समान सर्वज्ञ नहीं है वह अल्पज्ञ है, इसीलिये अत्यन्त प्रबल माया के वशीभूत होकर अपने को कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता मानने लगता है।

१६. स्व स्वरूप में (जीव स्वरूप में) कर्तृत्व भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व के अभिमान का अभाव है।

१७. अज्ञान दशा से ज्ञान दशा एवं विज्ञान दशा में स्थित हो जाने पर जीवात्मा को ज्ञानी एवं विज्ञानी कहना औपाधिक है क्योंकि स्वस्वरूप स्वभाव से ही ज्ञान स्वरुप है। जैसे सूर्य के समक्ष बादल आ जाने से अन्धकार और पृथक हो जाने से प्रकाश हो जाता है किन्तु सूर्य सदा एकरस ही रहता है।

१८. आत्मा का स्वरूपतः प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

१९. जीव स्थिति भेद से पांच प्रकार का निरूपित किया गया है। नित्य, मुक्त, मुमुक्ष, कैवल्य और बद्ध।

२०. नित्य वे हैं जो भगवत् परिचर्या करते हुए भगवद्धाम में अनन्त काल से निवास कर रहे हैं।

२१. मुक्त वे हैं जो आचार्य कृपा से वासना रूपी भव बन्धन को तोड़कर मुक्त हो गये हैं, जिन्हे श्री जी के पुरुषकार से भगवान अपने भोग्यानुभव में विनियोग करते है।

२२. मुमुक्ष वे हैं जो अपने को अहंकार, ममकार से पृथक कर भगवदनुभव करने के इच्छुक हो गये हैं।

२३. कैवल्य वे हैं जो आत्मानुभव में तल्लीन हो गये हैं।

२४. बद्ध अस्मदादि सभी संसारी चेतन हैं जो अहंकार-ममकार के वशीभूत होकर संसार एवं स्वर्गादि सुख के भोगने को ही पुरुषार्थ समझते हैं।

२५. जीव धर्मी है और स्वरूपानुरूप शम-दमादि गुण उसके धर्म हैं।

२६. मूल मन्त्र के मकार से जीव का सच्चिदानन्दत्व तथा ज्ञान-गुणकत्व, प्रकृतेः परत्व, नित्यत्व और अनन्य शेषत्व कहा गया है।

२७. मूल मन्त्र के नमः पद से चेतन की उपायन्तर निवृत्ति शरीर के समान शेष भूत होकर स्वरूप में स्थित रहना और उपेय की कृपा को ही उपाय मानना कहा गया है।

२८. मूल मन्त्र के चतुर्थ्यन्त पद से जीवन को भगवान के अनुरूप भोग्य बनके रहना कहा गया है।

२९. जीव परमात्मा के सहज परतन्त्र है अर्थात उसकी परतन्त्रता आगन्तुक नहीं है।

३०. जीव भगवान का सहज दास है क्योंकि आचार्यों का अभिमत है कि सच्चिदानन्दात्मक स्वरूप से भी दासात्मक स्वरूप अन्तरंग है।

३१. जीव अनेक अर्थात् अनन्त है।

३२. साधनों के द्वारा बुद्धि और आत्मा के पृथकत्व का ज्ञान जब बुद्धि में पूर्ण रूपेण बैठ जाता है तब बुद्धि से तादात्म हटने पर जीव स्व-स्वरूप में स्थित हो पाता है।

३३. मूल मन्त्र के अर्थ में स्थित हो जाने पर आत्म स्वरूप का वैशद्य विकसित हो जाता है।

३४. परमात्मा की कृपा प्राप्त कर जीव अपने सहज स्वरूप में स्थित हो जाता है।

—:०:—

पर स्वरूप

१. परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर, भगवान, राम, कृष्ण, नारायण, नृसिंहादि नाम जिस परमतत्व के वाचक हैं, उसी सनातन, अव्यय, अमल, अपरिणामी, ज्योतिर्मय मंगलमय, परमतत्व को पर स्वरूप कहते हैं।

२. पर स्वरूप, स्वयं स्वाभाविक सच्चिदानन्दमय, प्रकाशमय, विज्ञानमय, मंगलमय, अमृतमय, रसमय, प्रेममय, अनिर्वचनीय परम विशुद्ध परम तत्व है।

३. पर स्वरूप, सूक्ष्म-स्थूल, निर्गुण--सगुण, पर-अवर और कारण-कार्य से परे महान से महान और अणु से अणु अगोचर तत्व है।

४. भगवान सर्व शेषी, सर्व भोक्ता, सर्व रक्षक, सर्वाधार सर्व नियन्ता, सर्वेश, सर्व स्वतन्त्र और निरंकुश शासक हैं।

५. ईश्वर काल, कर्म, स्वभाव और गुण से सदा अछूता रहता है, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक क्लेश उसका स्पर्श नहीं कर पाते।

६. परम प्रभु परमात्मा सर्व देश, सर्व काल में सर्वदा एकरस बना रहता है, वह किसी से परिछिन्न नहीं होता।

७. प्रकृति और जीव व्याप्य हैं, परब्रह्म परमात्मा उनमें हर ओर से बाहर भीतर पूर्णरूपेण व्याप्त है, इसलिये उसे व्यापक कहते हैं।

८. जीवों की गति-अगति, सृष्टि का सृजन और संहार तथा विद्याऽविद्या माया जिसके अधीन हैं, जो सर्वदा असमोर्ध्व श्री, यश, तेज, बल, ज्ञान और वैराग्य के विग्रह-वाला है वही परमतत्व भगवान है।

९. पर स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त और असंग है, वह सर्वदा एक रस बना रहता है ।

१०. जो सबका माता-पिता, गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, शरण्य और सुहृद है वही परमात्मा है ।

११. जो तत्व कर्ता, कारयिता और भोक्ता होते हुए भी अकर्ता, अकारयिता और अद्रष्टा, अभोक्ता बना रहता है वही पर स्वरूप है

१२. विषय, करण, देवता और जीव जिस परम तत्व से चेष्टित होते हैं, वही पर स्वरूप है ।

१३. जिससे यह जगत उत्पन्न होता है, जिसमें प्रतिष्ठित रहता है और जिसमें लय हो जाता है, वही परब्रह्म (पर स्वरूप) है ।

१४. पर स्वरूप अनादि है वह सबके आदि, मध्य और अन्त में विद्यमान रहता है ।

१५. पर स्वरूप-पूर्व से भी पूर्व होने वालों का गुरु है । ऐसा कोई समय नहीं था, न है और न होगा कि जिसमें ईश्वर का अभाव हो ।

१६. पर स्वरूप की सकासता से ही प्रकृति में कार्य करने की शक्ति समुत्पन्न होती है ।

१७. ईश्वर निरतिशय सर्वज्ञ है अर्थात् अनन्त सृष्टि के अनन्त जीवों के सर्व समय का सर्वज्ञान एक साथ बिना साधन के स्वाभाविक रखता है ।

१८. जो तुर्या का तारुण्य है, उन्मनावस्था का आनन्द है, योगद्रुम का महाफल है और कैवल्यावस्था का चैतन्य घन है, वही पर स्वरूप है ।

१६. जो मन से परे है, जहाँ शब्द के झंझावात का स्पर्श नहीं होता वही पर स्वरूप अर्थात परब्रह्म है ।

२०. योगियों के रमण करने का जो एकमात्र स्थान है, वही सच्चिदानन्दात्मक परमतत्व पर स्वरूप है ।

२१. जो तत्वमसि इत्यादि महावाक्यों का लक्ष्य है, आकाश से महान और भावातीत है, वही त्रिगुणातीत परम तत्व है ।

२२. जो पूर्ण है और जिस पूर्ण से पूर्ण निकाल लेने पर भी पूर्ण ही अवशेष रहता है वही पूर्ण ब्रह्म पर स्वरूप के नाम से कहा जाता है ।

२३. जीव और प्रकृति समुदाय ईश्वर का शरीर है, इसलिए वह शरीरी है ।

२४. परमात्मा का स्वभाव सृष्टिमय है, जैसे समुद्र का स्वभाव उत्ताल तरंगों का उदय और अस्त करना है ।

२५. यह संसार, लीला-प्रिय भगवान की लीला है जो उनके संकल्प से प्रादुर्भूत होता है ।

२६. परस्वरूप देही-देह विभाग रहित होता है अर्थात् उसकी देह भी सच्चिदानन्दमयी होती है ।

२७. पर स्वरूप एक होते हुए भी सर्वदा मिथुन स्वरूप होता है जिस जोड़े को ईश्वरी-ईश्वर, लक्ष्मी नारायण, राधा-कृष्ण और सीता-राम इत्यादि नाम से शास्त्र पुराण पुकारते हैं।

२८. पर स्वरूप में-परत्व, सर्व सौलभ्य और अनन्त सौंदर्य होता है इसलिये सबसे वन्दनीय और सेवनीय होने योग्य होता है।

२६. ईश्वर-मायापति, हृषीकेश और उर प्रेरक है ।

३०. पर स्वरूप ही जीवों को उत्तरोत्तर सुलभ होने के लिए-व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार रूप धारण करता

है, इसलिये उसकी पंच अभिव्यक्तियाँ वेद, इतिहास और पुराणों में दृष्टिगोचर हो रही हैं।

३१. परमात्मा लीला स्वाद के लिए अपने संकल्पानुसार अनादि काल से अपने स्वरूप में ही अंशी और अंश की प्रतीति करा रहा है, जैसे अनन्त आकाश के भीतर ही मठाकाश और घटाकाश की प्रतीति सर्वदा से चली आ रही है।

३२. ईश्वर एक है, अद्वितीय है, अनुपमेय है, असमोर्ध्व है और युगपद परस्पर विरोधि धर्म का धारक है।

३३. पर स्वरूप करने न करने और अन्यथा करने में पूर्ण समर्थ है।

३४. ईश्वर की सत्ता से ही जड़ माया एवं उसके कार्य सत्य के समान प्रतीत होते हैं।

३५. इस सृष्टि के सृजन, संरक्षण और संहार का कारण ईश्वर ही है अन्वय और व्यतिरेक अवस्था में उसी की सत्ता है।

३६. जिसके नाम, रूप, लीला और धाम चारों सच्चिदानन्द मय होते हैं, उसी को श्रुति सच्चिदानन्दात्मक ईश्वर कह कर निर्देश करती है।

३७. जिसके नाम का महद्यश है तथा जिसके मन्त्र का उपदेश श्री रुद्र देव दिया करते हैं, वही परमतत्व पर स्वरूप कहलाता है।

३८. जिसकी लीला ब्रह्मलीन जीवन्मुक्तों के भी मन को मुग्ध करने में सहज समर्थ होती है, वही परम तत्व पर स्वरूप के नाम से कहा जाता है।

३९. जिसका रूपौदार्य बड़े बड़े ब्रह्म स्वरूप ब्रह्म ज्ञानियों को अपनी ओर आकृष्ट करने में सहज ही सक्षम होता है उसी हृष्टचित्तापहारी को पर स्वरूप कहते हैं।

४०. जिसके धाम में पहुंचकर जीवात्मा पुनः प्रकृति प्रदेश में लौटकर नहीं आता, वही पर स्वरूप है।

४१. जिससे परे कोई नहीं है, उसी परतम पर ब्रह्म को पर स्वरूप कहते हैं ।

४२. जो अनन्त, असीम, निरतिशय, अगम्य, अनिर्वचनीय, निर्गुण, सगुण विशेषण वाला विशेष्य तत्व है, वही पर स्वरूप के नाम से कहा जाता है।

४३. सौलभ्य, सौशील्य, वात्सल्य सर्वलोक शारण्यता, क्षमा, कृपा, करुणा, दया और औदार्यादि अनन्त दिव्य गुण भगवान के सहज धर्म है।

४४. भगवान प्राकृत इन्द्रियों के बिना ही शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का सम्यक् अनुभव करते हैं एवं गमन करते हैं तथा सम्पूर्ण प्रकार के कार्य करते हैं।

४५. जगत प्रकाश है और उसके प्रकाशक भगवान हैं।

४६. भगवान एक होते हुए अनेक हैं और अनेक होकर भी एक हैं।

४७. भगवान के अचिन्त्य महिमा की इयत्ता भगवान को भी न मालुम होने पर उसमें कमी नहीं आती।

४८. जो अकारण सबके हित और प्रिय करने में कटिबद्ध है उसी सर्व समर्थ अचिन्त्य तत्व को भगवान कहते हैं।

४९. अनन्त महिमा वाले भगवान भक्तों के अधीन हो जाते हैं क्योंकि वे भक्ति प्रिय हैं।

५०. सकृत शरणागति करने वाले प्रपन्न याचक को सर्व-भांति अभय करने वाले एकमात्र भगवान हैं।

५१. जो सब ओर से निराश होकर भगवान के शरण जाता है वह भगवान के द्वारा शोक-विहीन और निष्पाप हो जाता है।

५२. विश्व का अणु-अणु भगवान से ओतप्रोत है अस्तु यह सब संसार भगवद्रूप है।

❖

उपाय स्वरुप

उपाय स्वरूप कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति और आचार्याभिमान भेद से पांच प्रकार का होता है।

कर्म:-

१. भूतों के भावानुसार उत्पन्न जो विसर्ग होता है उसी को कर्म कहते हैं, पाप और पुण्य जिसके मुख्यतः दो भेद हैं।

२. कर्म सकाम और निष्काम भावना से प्रेरित होकर नित्य, नैमित्तिक, अनुषंगिक और यादृच्छिक रूप से प्राणियों द्वारा सम्पन्न होते हैं।

३. सकाम कर्म त्रिवर्ग अर्थात् संसार के विवर्धन का हेतु है।

४. पाप कर्म सर्वथा त्याज्य है वह यम यातना और नारकी योनियों का प्रदाता है, उभय लोक में कष्टातिकष्ट के अनुभव कराने का कारण है।

५. निष्काम किया हुआ स्वरूप कर्म भी महान भय से मुक्त करने वाला होता है।

६. निष्काम कर्मो की पूर्ण रूपेण शोभा भगवदर्थ करने पर ही होती है।

७. भगवदर्पित कर्म अचिर काल ही में प्रभु को प्रसन्न करके कर्ता को परम विशुद्ध बनाने वाले होते हैं।

८. कर्तृत्वाभिमान, फलाशा, आसक्ति और रागद्वेष से रहित असंग होकर के ही वेद विहित कर्म करने के लिए शास्त्रों की आज्ञा है।

९. कर्म की वास्तविकता भगवत् कैंकर्य के रूप में करने से है।

१०. कर्ता का कर्म वही श्रेष्ठ है जो भगवद्भागवत के मुखाम्भोज का विकासक होता है।

११. जीव को कर्म करने का अधिकार है किन्तु फल में नहीं।

१२. समत्व बुद्धि से प्रेरित होने वाले कर्म, कर्ता को सदा शान्ति के सागर में संलीन किये रहते है।

१३. दीन-दुखियों की सेवा का कर्म भगवान की सेवा करना है।

१४. परहित प्रयोजन ही जिन कर्मो का प्रारम्भ है वही कर्म सत्कर्म संज्ञक है।

१५. कर्म के त्याग से निष्काम कर्म करना श्रेष्ठ है।

१६. अहं पूर्वक कर्म का त्याग करना कर्म फल के शुभाशुभ बन्धनों से मुक्त नहीं करता।

१७. अहं हीन, फल की इच्छा न रखते हुए बिना आसक्ति के जो कर्म किये जाते हैं, वे भुने हुए बीज के समान फल देने के लिये नहीं उगते।

१८. शास्त्र विहित कर्म, कर्ता के मन को पवित्र बनाते हैं, परिणाम में वह संकल्प हीन हो जाता है।

१९. कायिक वाचिक और मानसिक कर्म सत्य पूत और शास्त्र विधि से ही होना चाहिये।

२०. ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों के संयोग से कर्म में प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और कर्ता, करण, क्रिया इन तीनों के संयोग से कर्म बनता है।

२१. कर्म जड़ है, अस्तु, फल देने में ईश्वर की अपेक्षा रखता है।

२२. कर्तापन के अभिमान से किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है, बिना भोगे कर्म फलों का क्षय नहीं होता ।

२३. स्वरूप में स्थित होने पर कर्म नहीं हो सकते ।

२४. कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म और गहन होती है ।

२५. संचित क्रियमाण और प्रारब्धीय कर्मों के संस्कार चित्त पटल पर चित्रित होते हैं, तदनुसार जीव में श्रद्धा उत्पन्न होती है और जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही उसके स्वरूप का निर्माण होता है ।

२६. सकामी सकाम कर्मों की परम्परा में पलकर संसार का ही प्रवर्धन किया करते हैं ।

२७. कर्म ऐसे करने चाहिये जिसका अनुवर्तन करने से इतर प्राणियों को शास्त्र विरुद्ध आचरण न करने का प्रशिक्षण हो ।

२८. शिष्ट आचार को ही शिष्टाचार व शिष्ट कर्म कहते हैं ।

२९. विशिष्ट कर्म, देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तनशील नहीं होते हैं ।

३०. कर्म, अकर्म और विकर्म का ज्ञान भली भाँति होना आवश्यक है ।

३१. ब्रह्म बुद्धि से किये हुए कर्म ब्रह्म मय होकर ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं । जैसे हम गाय को घास खिलाने का कर्म करते हैं तो हमको यह बुद्धि रखनी चाहिए कि यह गाय ब्रह्म है, घास भी ब्रह्म है, हम भी अहं हीन ब्रह्म है और इस कर्म का फल ब्रह्म को ही अर्पण है ।

३२. कर्मेन्द्रियों को हठात् रोक कर जो भोगों का मन से चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी और दम्भी है।

३३. जो मन से इन्द्रियों का निग्रह करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है वह श्रेष्ठ है।

३४. बिना कर्म किये शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता इसलिये शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान अनासक्त होकर स्वधर्मानुसार करते रहना चाहिये।

३५. भगवत स्मरण निरन्तर सर्व काल सर्व देश में करते हुए शास्त्र विहित कर्म अनासक्त होकर करते रहना चाहिये।

३६. जो भगवान के पावन नाम का स्मरण करते हुए कर्म करते हैं वे परम पद को प्राप्त होते हैं और जो ईश्वर के नाम का विस्मरण करके कर्म करते हैं, उनके लिये शोक का ही स्थान मिलना संभव रहता है।

ज्ञान :–

१. ज्ञान की क्रमशः शुभेच्छा, बिचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावना, तुर्यगा की सप्त भूमिकाओं का यथाक्रम अनुसरण करने पर ही ज्ञान की पराकाष्ठा उपलब्ध होती है।

२. तुरीयावस्था ही ज्ञान की सिद्धावस्था है।

३. तुरीयावस्था में अहं और संसार के बीज का सर्वथा नाश होकर सर्वत्र ब्रह्म की प्रतिष्ठा हो जाती है।

४. ज्ञानी की दृष्टि से जगत असत्य और ब्रह्म सत्य है।

५. ज्ञानार्जन के साधन काल में "अहं ब्रह्म", "सो हं", "तत्त्वमऽसि" वाक्यों का अनुसंधान, विचार एवं अध्यवसाय होता है किन्तु ज्ञान स्वरूप हो जाने पर कौन किसका ज्ञान करे अर्थात् परिपक्वावस्था में अहं ब्रह्म की स्मृति त्वम् की अपेक्षा रखती हुई द्वैत का दर्शन कराती है।

६. संसार औपाधिक है, ब्रह्म में उसकी प्रतीती वैसे ही हो रही है, जैसे आकाश में धूम, धूरि और अंधकार की।

७. ज्ञानी लोग ईश्वर संज्ञा औपाधिक मानते हैं।

८. ब्रह्म आभास मात्र सत्ता है, वह कर्ता-कारयिता एवं अवतारी-अवतार नहीं है।

९. ब्रह्म न कारण है और न कार्य है, न सूक्ष्म है न स्थूल है, न पर है न अवर है और न सगुण है न निर्गुण है, वह अनिर्वचनीय आकाश से महान परमार्थ स्वरूप सत्ता है।

१०. जो श्रवण से सुना जाता है, नेत्रों से देखा जाता है, जिसका रसना से रस लिया जाता है, घ्राणेन्द्रिय से सूंघा जाता है और त्वक्इन्द्रिय से जिसका स्पर्श किया जाता है, वह ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म अगोचर है, वह केवल ज्ञान गम्य है।

११. समुद्र में जैसे लहरों का उदय और अस्त दिखाई देता है, उसी प्रकार ब्रह्म में संसार का। वास्तव में ब्रह्म से न कुछ प्रकट होता न विनाश को प्राप्त होता है, स्वयं ब्रह्म अपने में अपने से अपना ही किलोल कर रहा है जैसे समुद्र।

१२. ब्रह्म को जानने वाला ज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है।

१३. ब्रह्म भूत प्रसन्नात्मा न कुछ सोचता है न कांक्षा ही करता है, वह प्रशान्त महासागर के समान शान्त बना रहता है।

१४. बिना ज्ञान के मुक्ति संभव नहीं है ।

१५. ज्ञानाग्नि में सम्पूर्ण कर्मों के बीज का नाश हो जाता है ।

१६. ज्ञान मार्ग में चलना छूरे की चोखी धार में चलना है।

१७. ज्ञान, ज्ञान मूर्ति गुरुदेव की देन है, अर्थात गुरु की कृपा से ही सच्छिष्य के हृदय गगन में ज्ञान-सूर्य का उदय होना सम्भव है ।

१८. ज्ञानी इन्द्रियों के व्यापार को गुण में गुण वर्तते हुये जान कर सब कुछ करते हुए कुछ नहीं करता है ।

१९. विज्ञानावस्था में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी का विलीनीकरण होकर एक अद्वितीय असंज्ञक अनिर्वचनीय अनल्प तत्व रहता है जो न कुछ जानता है न देखता है न सुनता है ।

२०. ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञातव्य तत्व की इयत्ता किसी ज्ञानी के द्वारा नहीं की जा सकती है ।

२१. वास्तव में ब्रह्ममय हो जाने पर ही ब्रह्म बोध यथार्थतः सम्भव है ।

२२. अज्ञान अन्धकार के विनाश होने पर चमकता हुआ ज्ञान-सूर्य बुद्धि प्रदेश को अपने आलोक से आलोकित कर देता है ।

२३. प्रातिभ ज्ञान के उदय होते ही किसी प्राणी पदार्थ एवं परिस्थिति का ज्ञान, ज्ञानी से छुपा नहीं रह सकता ।

२४. अर्थ पंचक एवं तत्वत्रय के रहस्यार्थ को जानने वाला ही सच्चा ज्ञानी है ।

२५. वाक्य ज्ञान, ज्ञान नहीं है। बोध स्वरूप हो जाना ही--ज्ञानी, एकान्तिक, वेदान्ती, वेदज्ञ, ब्रह्मविद, परमार्थ विद् स्वरूपज्ञ और सूक्ष्मदर्शी की संज्ञा प्रदान करता है।

२६. आनन्दं ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमस्यादि वेद वाक्यों के लक्ष्य में स्थिर हो जाना ही ज्ञान स्वरूप हो जाना है।

२७. शम, सन्तोष, विचार और ज्ञानियों के संग से ज्ञान की उपलब्धि होती है।

२८. ज्ञान ज्योति के एक रस जलने से अज्ञान के अन्धकार का प्रवेश नहीं होता।

२९. गीताकार के अनुसार-अमानित्व, अदम्भित्व अहिंसा, शान्ति, आर्जव, आचार्योपासना, शौच, स्थैर्य आत्म विनिग्रह, इन्द्रियों के अर्थों में वैराग्य, अनहंकार जन्म–मृत्यु–जरा--व्याधि--दु:खदोषानुदर्शन आसक्ति का अभाव, अनभिष्वंग (सबसे ममत्व हीनता), समता, इष्टानिष्ट की प्राप्ति में हर्ष-विषाद का अभाव, भगवान में अनन्य प्रयोजन वाली अनन्य भक्ति, विविक्त देश का सेवन, जनसमुदाय में अरति, अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति और तत्वज्ञान के अर्थ रूप परमात्मा को सर्वत्र देखना सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है, और इससे जो विपरीत है, वह सर्वथा अज्ञान है।

३०. सत्यासत्य के स्थिर विवेक को ही ज्ञान कहते हैं।

३१. विज्ञानावस्था में संसार की स्मृति किसी के प्रयत्न करने पर भी विज्ञानी को नहीं होती।

३२ ब्रह्म (ईश्वर) एक है, सूक्ष्मदर्शी सज्जन (ब्रह्मर्षि) लोग उसको बहुत प्रकार से कथन करते हैं।

३३. ज्ञान अत्यन्त गहन और गूढ़ महावृक्ष है जिसमें कैवल्य का अमृत फल लगा है। कोई कोई विशेष अधिकारी ही वृक्ष में चढ़कर गिरने से बच गये तो उस फल का आस्वादन करते हैं।

—: ० :—

भक्ति :—

भक्ति शब्द "भज सेवायाम्" धातु से निष्पन्न होता है। जिसका सुस्पष्ट अर्थ है भगवान का भजन करना, कैंकर्य करना।

२. श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन नामिका नव प्रकार की भक्ति, आचार्यों ने वर्णन किया है, प्रेम लक्षणा और प्रेमापरा को लेकर ग्यारह प्रकार की भी कहा है।

३. स्थिति भेद से तामसी, राजसी और सात्विकी, तीन प्रकार की तथा मुख्या और गौणी दो भेद से दो प्रकार की एवं वैधी और प्रेमा दो भेद से दो भाँति की भक्ति, भक्ति-वेत्ताओं ने वर्णन किया है इसी प्रकार सकाम और निष्काम भेद से भी भक्ति के दो प्रकार और हैं।

४. प्रेमा भक्ति एक होते हुए भी आसक्ति भेद से ग्यारह प्रकार की होती है, १--गुण माहात्म्यासक्ति, २--रूपासक्ति, ३--पूजासक्ति, ४--स्मरणासक्ति, ५--दास्यासक्ति, ६--सख्यासक्ति, ७--कान्तासक्ति, ८--वात्सल्यासक्ति, ९--आत्म निवेदनासक्ति, १०--तन्मयतासक्ति, ११--परमविरहासक्ति।

५. स्थिति भेद से प्रेमाभक्ति (रागानुगा भक्ति) उसी प्रकार रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और महाभाव के

नाम को धारण करने वाली होती है। जिस प्रकार ईख-बीज स्थिति भेद से क्रमशः ईख, ईखरस, गुड़, खांड, शर्करा, चीनी और मिश्री संज्ञा को धारण करता है।

६. पूर्व संस्कार वशात् या प्रेमास्पद भगवान के रूप, गुण और कीर्ति के श्रवण करने से सर्व प्रथम जो प्रेम उत्पन्न होता है उसे रति कहते हैं। रति प्रेम की अंकुरावस्था है।

७. रति के तीन भेद हैं--साधारणी, सामंजसा और समर्था। स्व सुख की कामना से प्रियतम के साथ प्रेम करना साधारणी रति के लक्षण हैं। निज सुख के साथ साथ प्रेमास्पद के सुख को भी चाहने वाली रति सामंजसा कही जाती है। स्व सुख कल्पना शून्य प्रियतम सुख प्रयोजन वाली रति को समर्था कहते हैं।

८. विरोधी वर्गों से बाधक दशा के उत्पन्न होने पर भी प्रीति में न्यूनता न आना प्रेम की स्थिति है।

९. प्रेम प्रावण्य से चित्त का द्रवते रहना स्नेह की स्थिति है।

१०. तदीयत्व और मदीयत्व भाव से अभिभूत होकर जो स्थितियाँ आती हैं उन्हें क्रमशः घृतस्नेह और मधुस्नेह कहते हैं।

११. प्रेमाधिक्य के प्रभाव से प्रभावित होकर प्रियतम को सम्मान न देकर प्रणय कोप की लीला करना मान कहलाता है।

१२. प्रेमी-प्रेमास्पद के तन और मन का ऐक्य प्रणय की स्थिति कही जाती है।

१३. प्रियतम के संयोग में करोड़ों दुःख आत्यन्तिक सुख समृद्धि के सदृश भासित होने लगे और वियोग में सार्वभौम सुख

का साम्राज्य दुखमय प्रतीत होने लगे तो जानना चाहिए कि यह राग की स्थिति है।

१४. क्षण-क्षण, नव-नव वर्धमान राग ही अनुराग संज्ञा को प्राप्त कर लेता है।

१५. अनुराग जब और और निखार आने के कारण अत्यन्त ऊंची स्थिति को प्राप्त कर लेता है, जिसका परिसीमन नहीं किया जा सकता तथा वैसी ही दशा प्रेमास्पद के हृदय में प्रकट कर देता है तब उसे महाभाव कहते हैं।

१६. महाभाव भी रूढ़ और अधिरूढ़ भेद से दो प्रकार का होता है।

१७. जब प्रियतम के संयोग जनित आनन्द में कल्प, लव के समान तथा वियोग जन्य दुख में लव, कल्प के समान लगने लगे तब उस अवस्था को रूढ़ महाभाव के नाम से कहा जाता है।

१८. जब प्रियतम के संयोग-सुख के समक्ष अनन्तानन्त ब्रह्माण्डों की सुख राशि अत्यन्त अल्प और वियोग जन्य दुख के सामने सर्व प्रकार की महा आपत्तियाँ नगण्य प्रतीत होने लगे, तब उस स्थिति को विद्वानों ने अधिरूढ़ महाभाव की संज्ञा प्रदान की है।

१९. अधिरूढ़ महाभाव के भी मोदन और मादन नाम के दो प्रकार होते हैं।

२०. मोदन के आविर्भाव में प्रेमास्पद एवं प्रेमास्पद के प्रियजनों में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है क्योंकि इस अवस्था में सात्विक का प्रदीप्त दीपक निर्विघ्न प्रकाशित बना रहता है।

२१. मोदन ही वियोगावस्था में मादन की संज्ञा प्राप्त करता है जिसमें विरह की दशों दशायें विलसती रहती हैं।

२२. चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मरण विरह की दशों दशाओं के नाम हैं।

२३. प्रेमा भक्ति को प्राप्ति चेतन के स्वरूपानुरूप परम पुरुषार्थ है।

२४. अमृत मय प्रेम पुट से संशोधित भक्ति ही रस रूपिणी कही जाती है।

२५. प्रेमा भक्ति को प्राप्त कर पुरुष सिद्ध हो जाता है। अमृत मय बनकर चरम तृप्ति को प्राप्त करता है।

२६. प्रेमा भक्ति को प्राप्त कर जीवात्मा आशा और आकांक्षा हीन होकर शोक मोह से पार हो जाता है। राग-द्वेष की अग्नि शान्त हो जाने के कारण वह अपनी आत्मा एवं अपने इष्ट में ही रात्रि दिन रमा करता है, उसे संसार के उत्सव उत्साही बनाने में असमर्थ ही बने रहते हैं।

२७. प्रेमा भक्ति का प्रकाश किसी भगवत-कृपा-पात्र पुरुष में ही प्रकाशित होता है।

२८. परम प्रभु के प्रेमियों का सतसंग करने एवं उनकी कृपा प्राप्त करने से प्रेम का अंकुर हृदय की भूमि में अंकुरित हो जाता है।

२९. भगवान के हृदय में जीव को निज जन बनाने का संकल्प एवं उनकी लेश मात्र कृपा हो जाय तो प्रेम का प्रचण्ड

सूर्य हृदय गगन में उदित होकर लोक को प्रकाशित करने लगता है।

३०. भगवान के रूप का ध्यान, नाम का जप, गुण का अनुसंधान, लीला का चिन्तन, धाम की निष्ठा तथा उनके वस्त्राभूषणों का अनुसंधान करने से प्रेम की चांदनी हृदय देश में छिटक जाती है।

३१. प्रेम का सूर्य जिसके हृदय गगन में उदित हो जाता है वहाँ अज्ञानान्धकार का बीज नष्ट हो जाता है।

३२. प्रेम सुख की प्राप्ति तब तक नहीं होती जब तक भुक्ति मुक्ति की स्पृहा रूपी पिशाचिनी हृदय में स्थान किये रहती है।

३३. जिसके हृदय में श्री हरि-भक्ति का निबास है उसके यहाँ सम्पूर्ण सिद्धियाँ, मुक्तियाँ और भुक्तियाँ खवासिनी (चेरी) का काम किया करती हैं।

३४. भगवान की भक्ति ने जिसके हृदय को अपना आवास बना लिया है वह बड़भागी आनन्द सिन्धु में निमग्न हुआ अर्थ, धर्म काम और मोक्ष के सुख को छुद्र गड्ढे के दुर्गन्धित जल के समान जान कर उसका चिन्तन नहीं करता।

३५. अनन्य भक्ति के प्रभाव से प्रेमी महात्मा को सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत भगवत् स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है।

३६. प्रेमी महात्मा से हिंसक पशु भी स्नेह करने लगते हैं।

३७. प्रेमी महात्मा की सेवा पंचभूत किया करते हैं।

३८. प्रेमी महापुरुष के समक्ष किसी ज्ञानी, योगी और कर्मठ की सिद्धाई नहीं चलती, सबको नतमस्तक होना पड़ता

है, यद्यपि वह किसी की मानहानि नहीं चाहता, स्वयं अमानी बनकर दूसरे को मान देता है।

३९. प्रभु के प्रेमी से रीझकर ब्रह्मादिक देवता उसे प्रणाम करने में किंचित संकोच नहीं करते।

४०. सर्व साधनों का परित्याग कर भक्ति का ही आश्रय लेना चाहिये अर्थात् भक्ति निष्ठ हो जाना चाहिये।

४१. भक्ति से क्या नहीं हो सकता, भक्ति से सर्व प्रकार की सिद्धियाँ सिद्ध हो जाती हैं।

४२. भक्ति का आश्रय लेने वाले का कुल पवित्र हो जाता है, माता कृतार्थ हो जाती है, भूमि उसके जन्म से भाग्यवती बन जाती है, पितृगण एवं सुर समूह परम प्रसन्न हो जाते हैं।

४३. भगवान स्वयं भक्ति प्रिय हैं, वे भक्ति भाव से भरे भक्त के एक बूँद आँसू एवं प्रेम से परिपूर्ण एक दल तुलसी पाकर अपने सहित अपना सर्वस्व दान भक्त को कर देते हैं।

४४. भक्ति, कर्म ज्ञान और योग से भी अधिकतम श्रेष्ठ और सुलभ है।

४५. भक्ति सम्पूर्ण सुखों की खानि है, ऐसा कौन मूर्ख होगा जो दूध के लिए सुन्दर सूधी सवत्सा दुधार गाय को छोड़कर अकमन के वृक्ष का अन्वेषण करे।

४६. भक्ति के बिना योग, कुयोग है, ज्ञान, अज्ञान है, धर्म, अधर्म है और कर्म कुकर्म है।

४७. भक्त वांछा कल्पतरु भगवान की भक्ति को बड़े बड़े योगीश, मुनीश, ऋषीश शेष गणेश, महेश एवं शारद सावित्री,

गायत्री और रमोमा खोजते हैं किन्तु वह प्रभु कृपा से किसी किसी को प्राप्त होती है।

४८. अव्यावृत भजन करते करते प्रभु कृपा से प्रेमा भक्ति का कार्य सम्पन्न होता है।

४९. प्रेमा भक्ति प्राप्त करने वालों को भक्ति के नाम पर जान बूझ कर श्रौत और स्मार्त कर्मों का अनुष्ठान, परित्याग नहीं करना चाहिये क्योंकि इससे पतन होने की आशंका है। ऊंची स्थिति में कर्म छोड़ा नहीं जाता स्वयं छूट जाता है।

५०. भक्त को भगवद्भक्ति विवर्धन करने वाले भगवान के वार्षिक उत्सवों का आयोजन यथाशक्ति प्रभु प्रसन्नता के लिये कंकर्क समझकर करने से प्रेम वृद्धिगत होता है।

५१. प्रेम की उच्चतम स्थिति में लौकिक-वैदिक कर्मों का न्यास अर्थात् विधि-निषेध का त्याग अपने आप हो जाता है।

५२. शरीरासक्ति, लोकैषणा, संसारियों का संग, मायावादियों का संग, विषय में रुचि, अहंता-ममता तथा सकाम भक्ति, प्रेमा भक्ति के उत्पन्न होने में विरोधक है।

५३. विविक्त देश का सेवन, जन समाज में अरति, रसिक जनों का सतसंग, अहंता-ममता का त्याग, विषय से अरुचि, हरि कथा में रुचि, नाम एवं मन्त्र जप की निष्ठा, भगवान के गुण ग्रामों का अनुसंधान, भगवत् विग्रह का आसक्त होकर ध्यान करना तथा भगवत् धाम वास करना प्रभु प्रेम प्राप्ति के साधक हैं।

५४. भगवान का द्रवत्व ही प्रेम है इसलिये प्रेम को ब्रह्म-द्रव भी कहते हैं।

५५. भगवान और उनका प्रेम एक ही तत्व है जैसे स्वर्ण और स्वर्ण द्रव एक ही हैं।

५६. प्रेमा भक्ति को प्राप्त करने वाला भक्त भी भगवत् स्वरूप ही है।

५७. भक्ति-भगवान-भक्त और भक्ति की रीति सिखाने वाले आचार्य का शरीर एक है केवल नाम चार कहे गये हैं।

५८. प्रेम करना आत्मा का स्वरूपानुरूप स्वभाव है।

५९. जीवों की जीवन-ज्योति प्रेम के घृत से ही जलती है।

६०. वह हृदय वज्र से भी कठोर है जो प्रभु स्मरण से द्रवीभूत नहीं हो जाता।

६१. प्रेम प्रदायक भगवान के चरित्र को जो कर्ण नहीं श्रवण करते वे सर्प गृह के समान हैं, जो रसना श्रीहरिनाम एवं हरि कथा गायन नहीं करती वह दादुर की जिह्वा के समान है।

६२. जीव की उपयोगिता प्रभु के प्रेम प्राप्ति करने ही में है, प्रेम की उपयोगिता प्रेमास्पद को सर्व समर्पण कर देने में है, सर्व समर्पण की उपयोगिता प्रभु के प्रसन्न होने में है, प्रभु प्रसन्नता की उपयोगिता प्रेमिक को निरावरण दर्शन देने अर्थात् अपनी प्राप्ति कराने में है, प्रभु प्राप्ति की उपयोगिता तत्-सुख-सुखी होकर प्रियतम के कैंकर्य करने में है।

६३. प्रेमिक के हृदय में निष्कामत्व, अनन्यत्व, तत् सुख सुखित्व, अकार त्रयका अखण्ड ज्ञानत्व, नित्य नव रसत्व, तवैवा-स्मित्व, रसो वै सः ज्ञानत्व, परमानन्दत्व और अमृतत्व अखण्ड बना रहता है।

६४. जब प्रेमिक में प्रेम की अतिशयता के कारण अनन्य शेषत्व, अनन्य भोगत्व, अनन्य रक्षकत्व, तदेकनिर्वाहकत्व और संयोग में अतिशय सुखानुभूतित्व तथा वियोग में विकलता के कारण अत्यन्त असह्य दुःखानुभूतित्व उत्पन्न हो जाता है तब वह प्रेमी प्रभु को श्रीजी के समान परम प्यारा बन जाता है।

६५. प्रेम प्राप्ति कर लेने पर प्रेमिक से प्रभु के प्रतिकूल व्यवहार उसी प्रकार नहीं होते जैसे अमृत पानकर लेने से मृत्यु का और सूर्य उदय हो जाने से अन्धकार का आना असम्भव होता है।

६६. प्रेमी का चित्त प्रियतम भगवान का स्मरण करते ही आपा को खो देता है।

६७. लोक लाज तथा किसी का भय प्रेमी को अपने में अभिभूत नहीं कर सकते।

६८. प्रेमी अपने प्रेमास्पद का गुण गान किया करता है एवं प्रियतम को ही सर्वत्र सुनता है, देखता है और जानता है।

६९. अनुरागी जन समस्त चराचर जगत को अपने प्रभु का शरीर समझते हैं, अस्तु-उसका सभी जीवों से सहज प्रेम होना स्वाभाविक है।

७०. प्रेमी अपने प्रियतम के अतिरिक्त देखने में अन्धा, सुनने में बधिर और बोलने में मूक रहता है।

७१. प्रेम का प्याला पीकर प्रेमी मतवाला हो जाता है, वह कभी रोता है, कभी हंसता है, कभी नृत्य करता है, कभी ऊंचे स्वर से गाता है, कभी मौन रहता है और कभी भाव विभोर होकर भावावेश की बातें करता है, लगता है कि उसका प्रति सम्बन्धी साथ ही में है।

७२. प्रेमाश्रुओं से विभूषित प्रेमी का मुखाम्भोज, वाणी की गद्‌गद्‌ता, रोमांचों का चमत्कृत होना और भक्ति से चित्त की प्रसन्नता बनी रहना दर्शकों के हृदय में प्रेम का संचार करती है।

७३. प्रेमी का दृष्टिपात, स्पर्श एवं हित चिन्तन जिस जीव के प्रति होता है वह प्रभु का प्रेमी बन जाता है।

७४. उच्च-स्थिति-प्राप्त प्रेमी के प्रभाव से पाषाण भी पिघल कर मोम बन जाता है।

७५. प्रेमी की बाह्यज्ञान शून्य अतीत सिद्धावस्था प्रेमी को प्रेमास्पद के स्वरूप में परिवर्तित कर देती है।

७६. प्रेमी, परमप्रभु प्रेमास्पद को प्रेम की रज्जु से बाँध कर अपने अधीन किये रहता है।

७७. प्रेमी, प्रेम के प्रभाव से त्रिभुवन को पवित्र बनाने में सर्व समय समर्थ रहता है।

७८. प्रेम-परवश-परमात्मा अपने नियम को उलट करके अपने प्रेमी के प्रण का पालन करता है।

७९. प्रेमी यदि भगवान को अपना सर्वस्व समर्पण करता है तो भगवान भी अपने प्रेमी को अपना सर्वस्व दान कर देते हैं।

८०. प्रेमी यदि प्रेमास्पद के विरह में व्याकुल होकर व्यथित चित्त से रोता है तो प्रभु भी प्रेमी के मिलने की आतुरता लेकर रोते फिरते हैं।

८१. प्रेमी, प्रेमास्पद प्रभु और प्रेम की महिमा अनन्त अगम्य और अनिर्वचनीय है।

८२. प्रेम सुख का अनुभव प्रेम प्राप्त करके ही किया जा सकता है।

८३. प्रेम की परिभाषा अनादिकाल से अब तक अधूरी ही पड़ी है।

८४. जो प्रेम का अनुभवी है वह प्रेम समुद्र में डूब कर बोलना नहीं जानता क्योंकि बोलना तभी तक बनता है जब तक जल के ऊपर मुख होता है, पानी के तली में बैठ जाने से उसके शव का भी पता नहीं चलता। जो बोलता है वह प्रेम सिन्धु में बैठने का अनुभवी नहीं है।

८५. प्रेमी का प्रेमास्पद यदि अपने प्रेमिक को दुःख की प्रतिमा के रूप में देखना चाहता है तो वह सर्वदा दुःख स्वरूप बने रहने में हर्ष का अनुभव करता है।

८६. प्रेमी अपने प्रेमास्पद को जब अपने सुख से सुखी देखता है तब वह अपने को सुखी रखने की चेष्टा करता है।

८७. चातकी वृत्ति को ग्रहण कर परमात्मा का प्रिय दास एकांगी प्रेम का निर्वाह करने में अपना उज्जीवन समझता है।

८८. प्रेम के बदले में प्रेमास्पद से कुछ अपने लिए चाहना वणिक का व्यापार है।

८९. प्रेम में कामना की गन्ध नहीं होती।

९२. प्रेमी प्रेमास्पद के प्रतिकूल वस्तु से उदासीन बना रहता है।

९१. प्रेम के चन्द्र को पूर्णिमा की तिथि नहीं प्राप्त होती अर्थात अनुराग प्रति क्षण वर्धमान होता हुआ भी पूर्णता को नहीं प्राप्त होता।

६२. प्रेम की चांदनी स्थावर-जंगम जगत के सभी प्राणियों को प्रिय होती है।

६३. प्रेम-भास्कर के प्रकाश में अघ के उल्लुओं का पता नहीं चलता।

६४. प्रेम, प्रेम के लिये ही करना चाहिये।

६५. भक्ति, साधन और साध्य दोनों है।

६६. भक्ति, स्वतन्त्र और सर्व सुखों की खानि है, ज्ञान विज्ञान उसके आधीन हैं।

६७. भक्ति देवी के सम्मुख माया आने में अति संकुचित होकर कभी आने का प्रयास नहीं करती।

६८. भक्ति देवी के सामने मुक्त्यादि सिद्धियाँ हाथ जोड़े हुये खड़ी रहती हैं।

६६. प्रेमी के प्रेम प्रकाश के पड़ते ही बड़े.बड़े ज्ञानियों का हृदय पानी पानी हो जाता है।

१००. प्रेम की समुज्वल धारा में गोते लगाना कर्म, ज्ञान और अष्टांग योग के पथिकों को भी उसी प्रकार दुर्लभ है जैसे संसारियों को।

१०१. भागवद्रस के रसिक ही प्रेम सुख के आस्वाद का अनुभव किया करते हैं।

१०२. कहीं कहीं स्वराज्य सिंहासन लब्ध अद्वैत पथ के उपासक भी प्रेमियों के प्रेम से प्रभावित होकर प्रेम पथ से चलना ही श्रेयस्कर और श्रेष्ठ समझते हैं।

—०—

प्रपत्ति :—

१. भगवत्-प्रवृत्ति-निवृत्त की स्वप्रवृत्ति-निवृत्ति ही प्रपत्ति नाम से पुकारी जाती है।

२. सर्वोपाय शून्य होकर प्रपत्तव्या को आत्म निवेदन कर प्रणाम करना ही प्रपत्ति कहलाती है।

३. आत्म-यात्रा एवं देह-यात्रा के लिये स्व-प्रयत्न का परित्याग कर सर्व लोक शारण्य के द्वार पर अंकिचन और अनन्य गति होकर पड़े रहना शरणागति कहलाती है।

४. अहंता और ममता को त्यागकर शारण्य के सर्वविधि अधीन बने रहना ही शरणागति कहलाती है।

५. त्यागने योग्य साधनान्तरों एवं देवतान्तरों को त्याग कर स्व प्रयत्न का भी परित्याग कर देना प्रपत्ति कहलाती है।

६. प्रपत्ति-योग में देश, काल, अधिकारी, फल और प्रकार का नियम नहीं है।

७. प्रपत्ति किसी भी देश और काल में किसी भी योनि के जीव-द्वारा स्थित प्रकार से किसी भी उद्देश्य अर्थात् फल के लिए की जा सकती है।

८. प्रपत्ति करते समय प्रपत्ता में प्रपत्ति की पूर्ण स्थिति होनी चाहिये, बस यही प्रपत्ति का नियम है।

९ परमात्मा के चरणों में की हुई एक बार की प्रपत्ति प्रपन्न को फल देने के लिये पर्याप्त है, अर्थात् भगवान अपने स्वभाव, सामर्थ्य, कृपालुता और प्रतिज्ञा को देखते हुए सकृत शरणागति लेने वाले चेतन को अभय प्रदान करते हैं।

१०. प्रभु के प्रेमी प्रपन्न-भक्त अपने नैच्यानुसंधानानुसार तथा कालक्षेप करने और रुचि को बढ़ाने के लिये जीवन भर प्रपत्ति करता रहे तो प्रपत्ता प्रपत्ति और प्रपत्तव्या के स्वरूप की कोई हानि नहीं होती। प्रपत्ता के प्रपत्तव्या की प्राप्ति की अत्यन्त तृष्णा के कारण प्रीति परवश होकर प्रपत्ति बार बार की जा सकती है। शास्त्र में बार बार करने का कोई नियम नहीं है।

११. प्रपत्ति करने वाले की प्रपत्ति आर्ति पूर्ण जब होती है तब वह आशु फलदायिनी सिद्ध होती है।

१२. आर्ति पूर्ण प्रपत्ति प्रपत्तव्या के हृदय में अत्यन्त आतुरता उत्पन्न कर फल प्रदान करने के लिये शीघ्रातिशीघ्र उसे प्रेरित करती है।

१३. सर्वाधिकारिणी प्रपत्ति स्वयं सिद्धोपाय है।

१४. शरणागति उपाय, उपेय के समान है, क्योंकि इसमें स्वयं भगवान की कृपा उपाय होती है।

१५. प्रपत्ति के प्रताप से शरीरान्त में ही महाफल की प्राप्ति होती है।

१६. प्रपत्ति में प्राण-प्रयाण के समय अन्य उपायों की तरह भगवत् स्मृति की अपेक्षा नहीं है क्योंकि अन्त समय में प्रपन्न की स्मृति स्वयं भगवान ही करते है।

१७. प्रपत्ति चेतन के स्वरूपानुरूप सिद्ध साधन है।

१८. प्रपत्ति फल देने में अन्य उपायों से अपना वैशिष्ट्य और वैलक्षण्य कुछ और ही रखती है।

१९. शरणागतवत्सल भगवान शरणागत चेतन के प्रति अपना सर्वस्व देकर भी संकुचित होते हैं कि और देने के लिये मेरे समीप कुछ नहीं है, क्या करूं ?

२०. शरणागत चेतन के शुद्धाशुद्ध भाव का स्मरण भगवान कभी नहीं करते।

२१. प्रपन्न के दोषों को तत्क्षण भगवान उसी प्रकार दूर कर देते हैं, जैसे भास्कर भगवान अन्धकार को।

२२. आचार्य माध्यम से की हुई शरणागति कभी निष्फल नहीं होती।

२३. आचार्य माध्यम से आये हुये शरणागत चेतन को स्वरूप स्थित न होने पर भी भगवान कभी अस्वीकार नहीं कर सकते।

२४. भव बीज को भस्म करके हे प्रभो ! दास को अपना अनुभव कराइये, ऐसी अभिलाषा को लेकर जो प्रपन्न प्रभु की प्रथम प्रपत्ति करता है, उसकी दूसरी बार प्रपत्ति संसारी पदार्थों की प्राप्ति के लिए होती है, तो परम हितैषी प्रभु उस इच्छा को पूर्ण नहीं करते क्योंकि वह अभिलाषा उनके अनुभव की विरोधिनी है।

२५. प्रपत्ति सर्व धर्ममयी उसी प्रकार से है जैसे पृथ्वी सर्व बीजमयी है।

२६. प्रपत्ति करने वाले कर्म, ज्ञान और भक्ति को उपाय-तया न स्वीकार करके कैंकर्य, प्राप्तव्य-ज्ञान और अनुभव के लिये तीनों का ग्रहण किये रहते है।

२७. कर्म, ज्ञान और भक्ति के अनुष्ठान की अज्ञता और अशक्यता चेतन को प्रपत्ति करने में प्रेरित नहीं करती अपितु उसकी स्वरूपानुरूपता ही प्रपत्ति करने को अग्रसर करती है।

२८. शारण्य को शरणागत चेतन के दोषों के स्मरण करने का अवकाश सर्वदा अप्राप्य रहता है। वह सर्व समय सर्वभावेन चेतन के हित और प्रिय करने में लगा रहता है।

२६. शरणागति के पश्चात कर्म फलों की परम्परा के अनुसार चेतन को शुभाशुभ कर्मफल नहीं भोगने पड़ते।

३०. शरणागति करके पुनः तत् स्वरूप से भ्रष्ट होकर देवतान्तर एवं साधनान्तर को अपना लेने से भगवत् शरणागति नष्ट हो जाती है।

३१. प्रपत्ति से पराँङ्मुख होने के पाप का कोई प्रायश्चित नहीं है।

३२. प्रपत्ति धर्म ग्रहण करके उसे छोड़ देने का प्रायश्चित पुनः शरणागति करना है।

३३. स्वयं सिद्ध साधन शरणागति से उपाय बुद्धि हटा कर उसे विशुद्ध बना लेना चाहिये क्योंकि प्रपत्ति में उपाय बुद्धि गौण और औपचारिक है।

३४. प्रपत्ति चेतन के स्वरूपानुरूप अधिकार बताती है, फल प्रपत्तव्या के कृपा पर निर्भर रहता है।

३५. प्रपत्ति फल देने में सापेक्ष है किन्तु सिद्ध साधन इसे इसलिये कहा गया है कि इसका अनुष्ठान करते ही सर्व लोक शारण्य की कृपा फल देने के लिये त्वरान्वित हो उठती है।

३६. श्री-पति की शरणागति करने से जीवात्मा अपार संवित्सुख के समुद्र में उसी प्रकार सुखी रहता है जैसे अथाह जल में मीन।

३७. मीन को अगाध जल में रहते हुए किसी बड़े जीव से उसके सुख में बाधा सम्भव हो सकती है परन्तु शरणापन्न जीव के सुख में कभी किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं हो सकता।

३८. शरणागति के महत्व को शरणागत चेतन ही जानता है, अन्य नहीं। सर्वलोक शारण्य भी शरणागत के सुख से वंचित ही रहता है।

३९. शरणागति के अचिन्त्य प्रभाव को दिखाता हुआ हिंसक सिंह अपने सम्मुख आने वाले जीव को कभी नहीं खाता।

४०. शरणागति के प्रभाव से दश हजार हाथी का बल रखने वाला दुःशासन द्रोपदी जी के दश गज चीर को उनके बदन से अलग न कर सका अपितु थक कर पृथ्वी पर शिर-नत बैठ गया।

४१. प्रपत्ति के प्रभाव को हृदयंगम करने पर प्रतीति होती है कि जानबूझ कर किए हुए चेतन के अक्षम्य पाप भी प्रपत्ति करने से प्रनष्ट हो सकते हैं किन्तु शरणापन्न जीव को बुद्धि पूर्वक पाप नहीं करने चाहिये।

४२. प्रपत्ता की सर्वभावेन प्रयत्नशीलता के सर्वथा नष्ट होने पर भगवत् कृपा का अपार समुद्र उमड़ कर उसके दुःख और दोषों को निर्बीज कर अपना और अपने अप्रतिम आनन्द का अनुभव कराता है।

४३. प्रपत्ति करने वाले प्रपन्न चेतन के शरीर में प्राकृत बुद्धि नहीं रखनी चाहिये।

४४. प्रकृति और आत्मा का विवेक-सूर्य जिस प्रपत्ता के हृदय-गगन में उदय हो गया उसे साधारण संसारी समझना प्रपत्ति के प्रभाव को न समझकर अपराध करना है।

आचार्याभिमान :-

१. आचार्य को सर्वस्व समझना आचार्याभिमान कहलाता है।

२. आचार्य चरणों को ही रक्षक और मोक्ष प्रदाता समझना आचार्याभिमान कहलाता है।

३. आचार्य श्री को ही उपाय उपेय समझना आचार्याभिमान कहलाता है।

४. आचार्य चरणों में अत्यन्त अनुरक्ति पूर्ण अनन्य भक्ति होना आचार्याभिमान कहलाता है।

५. आचार्य श्री को ही सृष्टि के सृजन, संरक्षण और संहार करने की शक्ति त्रिदेवों को प्रदान करने वाला समझना आचार्याभिमान कहलाता है।

६. आचार्याभिमानी, अपने आचार्य को व्यापक और अन्तर्यामी समझता है।

७. आचार्याभिमानी, आचार्य को तत्वमस्यादि वाक्यों का लक्ष्य और ब्रह्मानन्द का साक्षात् विग्रह समझता है।

८. आचार्याभिमानी शिष्य, अपने आचार्य को ज्ञान की साक्षात् मूर्ति और आकाश से महान्, द्वन्द्वातीत, परम तत्व समझता है।

९. आचार्याभिमानी, अपने आचार्य को ही नित्य, एक अमल, परम ज्योति स्वरूप, सर्वधी, सर्व-साक्षी, भावातीत, त्रिगुणातीत और अनादि परमात्मा, परब्रह्म तथा भगवान मानता है।

१०. आचार्याभिमान, अन्य उपाय और अन्य देवाराधन को नहीं सहता।

११. आचार्याभिमानी के कर्म, ज्ञान, भगवद्भक्ति और प्रपत्ति आचार्याज्ञानुसार आचार्य के मुखाम्भोज को विकसित करने के लिए होती है।

१२. आचार्याभिमानी, आचार्य कैंकर्य के लिए जीता है और जीने की इच्छा भी करता है।

१३. आचार्याभिमामी अपनी आत्मा एवं देह को अपने आचार्य का अंग मानता है, अपने अस्तित्व का अभिमान नहीं रखता।

१४. सद्शिष्य के लिए जैसे आचार्य की आत्मा (जो परम तत्व स्वरूप है) उपयोगी है वैसे ही आचार्य--देह भी उपयोगी है।

१५. शिष्य को आचार्य देह की आसक्ति, चिन्ता और शुश्रूषा उसके स्वरूपानुरूप है।

१६. सद्शिष्य को आचार्य के कैंकर्य करने का अभिमान नहीं होता, उसका यथार्थ ज्ञान यह होता है कि यह दास गुरुदेव का स्वयं अंग है। अस्तु अन्य की सेवा का अभाव है, आचार्य की सेवा स्वयं उनके अंग से हो रही है।

१७. शिष्य, स्व शरीर की आसक्ति हीन रक्षा आचार्य कैंकर्य के लिए उन्हीं के प्रसादभूत भोजन--वस्त्रादि से करता है।

१८. सद्शिष्य, स्वदेह सम्बन्धी जिन जिन वस्तुओं को आचार्य सेवा में समर्पित करता है, उन चीजों को स्वयं आचार्य की मानता है।

१९. आचार्याभिमानी, अपनी देह यात्रा और आत्म यात्रा की चिन्ता की चिनगारी से नहीं जलता।

२०. आचार्याभिमानी, आचार्य प्रसन्नता को ही अपना सुख एवं परमपद समझता है।

२१. आचार्याभिमानी, ध्यान का मूल श्री गुरुमूर्ति, पूजा का मूल गुरु--पद--रज, मन्त्र का मूल गुरु--वाक्य और मोक्ष का मूल गुरु--कृपा समझता है।

२२. आचार्याभिमानी शिष्य के आचार्याभिमान से आचार्य के स्वरूप एवं वैभव की सिद्धि तथा रक्षा होती है जैसे रत्न-पारखी एवं रत्न ग्राही से ही रत्न-वैभव की सिद्धि तथा सुरक्षा होती है अन्यथा रत्न स्वयं अपने को रत्नपने के अहंकार से अनावृत रखता हुआ अज्ञानियों के द्वारा अनादृत ही होता रहता है।

२३. सद्शिष्य, आचार्य-वैभव के पताके को फहराने के लिए स्वयं दण्ड कार्य करता है।

२४. आचार्याभिमानी, अपने आचार्य के हित और प्रिय की कामना को अन्तःकरण में सर्वदा धारण करता है।

२५. आचार्याभिमानी सद्शिष्य, अपने आचार्य का मंगला-नुशासन करने के स्वभाव वाला होता है।

२६. आचार्याभिमानी, प्रकृति सम्बन्ध में रहते हुये अपने आचार्य का दोषानुसंधान कभी नहीं करता।

२७. आचार्याभिमानी के स्वरूप की सिद्धि भगवान, भागवत, सच्छास्त्र और सद्गुरु के वचनों का समादर करने से होती है।

२८. असत्मार्ग में चलते देखकर भी आचार्य के कुछ न बोलने को सद्शिष्य, कृपा न समझकर क्रोध समझता है।

२९. सन्मार्ग में प्रवेश कराने के लिये आचार्य के क्रोध को सद्शिष्य कृपा समझते हैं।

३०. आचार्याभिमानी, भगवान के श्री अंगों के अनन्तानन्त सौन्दर्य के सागर में डूब कर आचार्याभिमान को नहीं खोता।

३१. आचार्याभिमानी, आचार्य के गुण गणों एवं चरितों का अनुसंधान भगवत्-चरितों से विलक्षण मानकर करता है।

३२. आचार्याभिमानी, भगवद्भक्ति को साधन और आचार्यानुरक्ति को साध्य मानता है।

३३. सद्शिष्य आचार्य के अविकसित मुखाम्भोज को देख कर अपने को नहीं सहता।

३४. आचार्य प्रसन्नता के लिये की गई सेवा के श्रमबिन्दु दिव्य कमल के पुष्प बन जाते हैं, यह अर्थ वाल्मीकि रामायण में श्री मतंग ऋषि के शिष्यों की सेवा के श्रम बिन्दुओं की आख्यायिका में द्रष्टव्य है।

३५. आचार्याभिमानी का विश्वास होता है कि भगवान रुष्ट हो जाँय तो गुरुदेव रक्षा कर सकते हैं किन्तु आचार्य के रुष्ट होने पर भगवान रक्षक नहीं बन सकते।

३६. आचार्याभिमान रूप उपाय भगवत विषय में लगाकर अनादि काल से सम्बन्ध-ज्ञान के अभाव से मुरझाये हुए स्वरूप को पल्लवित करता है पुनः पुष्पित कर फलान्वित करता है पुनः रस मय बना देता है तब रसिकेश्वर भगवान के भोग्य अनुरूप यह चेतन हो जाता है।

३७. आचार्य-सेवा से कुछ प्रातव्य वस्तु शेष नहीं रहती, सभी सिद्धियां और मुक्तियां सम्मुख उपस्थित होकर दासी बनने

की इच्छा प्रकट करती हैं, किन्तु आचार्याभिमानी आचार्य-कैंकर्य को ही परम पुरुषार्थ समझते हैं।

३८. आचार्याभिमानी की ओर भगवान सदा आकर्षित बने रहते हैं।

३९. आचार्याभिमानी आचार्य परम्परा का स्मरण करता हुआ निश्चिन्त रहता है।

४०. आचार्य सुख के लिए यदि अपने को नरक-यातना का पात्र बनना पड़े तो सद्शिष्य सहर्ष बिना विचारे शीघ्र स्वीकार कर लेता है।

४१. आचार्याभिमानी, आचार्य देह सम्बन्धित प्राणी-पदार्थ को परम पूज्य समझता है।

४२. आचार्याभिमानी, साधनान्तरों और देवान्तरों की ओर पृष्ट किये रहता है, वह आचार्याभिमानी जनों के बीच में बैठकर सुख पाता है।

४३. आचार्य-दर्शन के सुख के समक्ष परमपद के सुख को आचार्याभिमानी नगण्य समझता है।

४४. आचार्याभिमानी, शिष्य करते समय अनुसंधान करता है कि यह दास अपने आचार्य का अंग है और वे अंगी है, अत-एव यह शिष्य बनाने की क्रिया वही कर रहे हैं और यह शिष्य भी आचार्य देव का ही है मेरा नहीं, इसका विनियोग वे स्वेच्छा पूर्वक कर सकते हैं।

४५. आचार्याभिमानी, अपने को आचार्य-कृपा से ओत प्रोत समझता है।

४६. आचार्याभिमानी शिष्य कितना ही ऊँचा ज्ञानी हो गया हो किन्तु वह आचार्य के सामने अज्ञानी बन कर ही जाता है।

४७. आचार्य देव को पाकर भगवान या अन्य विशेष तत्व पाने की जिज्ञासा शिष्य के हृदय में है तो वह न तो आचार्याभिमानी है और न आचार्य को ही समझ पाया।

४८. आचार्यवान को कोई ज्ञातव्य एवं प्राप्तव्य तत्व शेष नहीं रह जाता।

४९. आचार्याभिमानी के आनन्द का अनुभव आचार्याभिमानी ही जानता है।

५०. आचार्याभिमानी, आचार्य-कैंकर्य-छोड़कर भगवान के कैंकर्य करने में रुचि नहीं रखता अपितु भगवत्कैंकर्य का त्याग आचार्य-कैंकर्य के आगे कर सकता है।

५१. अपने आचार्य के साथ आये हुए भगवान का दर्शन आचार्याभिमानी सप्रेम करता है, अकेले आये हुए हरि के दर्शन से उसके नेत्र तृप्त नहीं होते।

५२. आचार्य और भगवान एक साथ बैठे हों तो आचार्याभिमानी प्रथम आचार्य को ही प्रणाम करता है।

५३. जैसे जल का सम्बन्ध बने रहने के कारण सूर्य कमल के विकासक सिद्ध होते हैं परन्तु जल से हीन कमल को जला डालते है वैसे ही आचार्य सम्बन्ध होने से भगवान सद्शिष्य के हृदय में भक्ति, ज्ञान, वैराग्य इत्यादि परमार्थ सम्पत्तियाँ उत्पन्न करते हैं किन्तु आचार्य विहीन पुरुष उनके रोष का ही पात्र बनता है।

५४. जैसे मंगल सूत्र सधवा स्त्री के गले में लगा रहने पर यदि आभूषण उसके न हों तो समय आने पर बनवाकर पहने

जा सकते हैं किन्तु यदि मंगल सूत्र न हो तो सम्पूर्ण आभूषण होते हुये भी अवद्यकर ही हैं। ठीक इसी प्रकार आचार्य से सम्बन्ध बना है तो समय पर भक्ति, ज्ञान, वैराग्य परिवर्धित किये जा सकते हैं किन्तु आचार्यहीन की भक्ति, ज्ञान और वैराग्य अशोभनीय ही रहते हैं।

५५. आचार्य का लाभ ईश्वर की कृपा से होता है और ईश्वर का लाभ आचार्य कृपा से होता है।

५६. आचार्य ही परब्रह्म, परागति, पराविद्या, पराकाष्ठा, परंधन और परमप्रभु हैं।

५७. आचार्य, ईश्वर और जीव दोनों के उपकारक हैं।

५८. ईश्वर-आश्रय हाथ पकड़कर कार्य कराने के सदृश है और आचार्य आश्रयण चरण पकड़कर कार्य कराने के समान है।

५९. आचार्य वैभव इतना श्रेष्ठतम है कि ईश्वर भी आचार्यत्व की आशा से युक्त रहते हैं।

६०. गुरु परम्परा एवं गीता के अभय प्रदायक प्रपत्ति-ज्ञान के कथन में भगवान के आचार्यत्व का दर्शन मिलता है।

६१. आचार्य से जो माना जाता है और जो आचार्य को मानता है वे दोनों निश्चय करके परम पद को प्राप्त होते हैं। पशु, पक्षी या मनुष्य कोई भी हो वैष्णव का आश्रयण कर विष्णु पद को प्राप्त करते हैं। बालक, जड़, गूंगा और बधिर इत्यादि भी आचार्य कृपा-कटाक्ष-पात होते ही परम पद प्राप्त कर लेते हैं।

६२. भगवान कर्मानुसार बन्धन देते हैं अर्थात् संसार की वृद्धि करते हैं और कारुण्य गुण के अनुसार मोक्ष प्रदान करते हैं। आचार्य कारुण्य के कारण केवल मोक्ष दिया करते हैं इसलिये

भगवान का आश्रयण साधारण और आचार्य-आश्रयण असाधारण है।

६३. महोपकारक आचार्य का कोई प्रत्युपकार करना चाहे तो चार विभूति और दो परमपद की आवश्यकता होगी।

६४. आचार्य-सम्बन्ध के बिना भगवत्-सम्बन्ध दुर्लभ है।

६५. आचार्याभिमान ही उत्तारक है।

६६. हस्तगत धन को छोड़ पृथ्वी में गड़े हुए अज्ञात धन का अन्वेषण करने के समान अत्यन्त सुलभ दृष्टभूत परमतत्व आचार्य को छोड़कर अदृष्ट परमात्मा को ढूढ़ना है।

६७. अत्यन्त प्यास के समय तृषित पुरुष को करस्थ स्वाद युक्त जल से भरे हुए पात्र को त्यागकर आकाश स्थित मेघ जल की, दूरस्थ समुद्र जल की, वर्षा के पश्चात सूखी सरिता जल की, पीने योग्य कुंआ बावड़ी के जल की, तथा कुआँ खोदकर तत्गत जल की अपेक्षा जैसे कभी नहीं करनी चाहिये वैसे ही मुमुक्ष को चक्षुर्गम्य आचार्य को छोड़कर परव्योमस्थित ब्रह्म की, व्यूहों की, विभवावतारों की, अन्तरयामी और अर्चावतार की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

६८. पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार के परम रम्य, परमानन्द स्वरूप स्थल आचार्य देव ही हैं, ऐसा समझकर आचार्यानुरक्ति बढ़ाते रहना चाहिये।

६९. आचार्याभिमानी आचार्य पर निर्भर रह करके शास्त्र के विधि-निषेध से अछूता रहता है।

७०. आचार्याभिमान, चरमोपाय है इसके स्पर्श से ही परम पद प्राप्त हो जाता है क्योंकि केवल आचार्य सम्बन्ध परम पद देने के लिए पर्याप्त है।

—:०:—

फलस्वरूप :—

१. फलस्वरूप पाँच प्रकार का शास्त्रों में निरूपित किया गया है।

२. अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष और भगवत्प्राप्ति नाम वाले फल ही रुच्यानुसार साधकों के साध्य होते हैं।

३. श्रुत एवं दृष्ट अर्थ की उपलब्धि सांसारिक सुख समृद्धि को संवर्धित करती है किन्तु कहीं कहीं अभिमान के रज्जु में बांधकर अनर्थकारी भी होती है।

४. धर्म, धर्मी का संग कभी नहीं छोड़ता। कीर्ति का विस्तार करने वाला एवं दिव्य लोकों की प्राप्ति कराने वाला तथा तेज और ओज प्रदान करके सर्व प्रकार से प्राकृतिक सुख को प्रदान करने वाला होता है। कहीं कहीं धर्मी को अभिमान के बन्धन से बाँधता भी है जिसके कारण जीव को कष्ट का अनुभव करना पड़ता है।

५. सभी प्रकार की कामनाओं की पूर्ति हो जाना काम फल की प्राप्ति कहलाती है किन्तु जब तक मन में कामना है तब तक संसार चक्र के चक्कर से जीव उपरत नहीं होता है।

६. अर्थ, धर्म और काम त्रिवर्ग कहलाते हैं, इन तीनों की प्राप्ति एवं सेवन से भव रस का आस्वाद प्राणियों को प्राप्त होता है। सत, रज और तम समय समय पर ज्ञान, प्रवृत्ति और अज्ञान से बाँधते रहते हैं, इसलिये प्रकृति के पार परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर रूपी अनन्तरस (परमानन्द) का आस्वाद लेने की इच्छा वाले मुमुक्षु त्रिवर्ग नहीं चाहते।

७. मोक्ष, भिन्न भिन्न सिद्धान्तों के अनुसार भिन्न भिन्न मान्यता को प्राप्त है, किन्तु वासना से उन्मुक्त हो जाना सर्व मान्य मोक्ष है इच्छा ही बन्धन है और इच्छाओं से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है।

८. सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य और सार्ष्टि, पंच प्रकार की मुक्तियाँ हैं।

९. भगवत् प्राप्ति महाफल है अर्थात् वैष्णव दर्शनानुसार जीव भगवान के अपुनरावर्ती धाम में पहुंचकर उनके अलौकिक, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य सुधामय विग्रह का दर्शन कर जीवत्व का परम लक्ष्य पा जाता है, और उन सच्चिदानन्द भगवान का निर्मम कैंकर्य करके तत्सुख सुखी बने रहना परम पुरुषार्थ समझता है।

१०. भगवत्प्राप्ति रूप महाफल बड़े बड़े ब्रह्मविद् वरिष्ठों को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

११. सनकादिकों के हृदय में भगवान के श्रीचरणों में चढ़ी हुई तुलसी के मकरन्द की वायु प्रवेश कर संक्षोभ पैदा कर दिया था, तो भगवान के श्री विग्रह का दर्शन ब्रह्मज्ञान को भगाकर दर्शक की क्या दशा कर देता होगा ?

१२. श्री शुकदेवजी जैसे आत्माराम, परम विरागी मुनि भगवान के स्वरूप का आंशिक वर्णन सुनकर श्री मद्भागवत का सर्वांगीण अध्ययन श्री व्यासजी से किये और उसके रस का पान करके रस मत्त बन गये थे।

१३. श्री मन्महाराज मिथिला नरेश अपने ज्ञान-रवि की रश्मियों से मुनि-कुल-कमलों को विकसित किया करते थे किन्तु भगवान राम के दर्शन मात्र से उनका ब्रह्म-सुख और वैराग्य

हवा हो गया वे राम-रूप के रागी बन गये और उनके दर्शन जनित सुख को ब्रह्मानन्द से शताधिक समझने लगे थे।

१४. प्रभु-प्राप्ति एवं उनके चरण कमल के अमल अनुराग की प्राप्ति के लिये भक्त जन अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का तिरस्कार कर दिया करते हैं।

१५. सार्वभौम सत्ता का आधिपत्य, रसाधिपत्य, इन्द्रत्व एवं ब्रह्मत्व, योग की सम्पूर्ण सिद्धियाँ और अपवर्ग सुख, भक्त को भगवत् प्रेम के बदले में मिलता हो तो वह उनका चिन्तन मन से नहीं करता, ग्रहण करने की बात क्या कहें ?

१६. भगवत्प्राप्ति के समान वास्तव में कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है।

१७. भगवत् प्राप्ति करने वाले के सामने चारों पदार्थ हाथ जोड़े हुए सेवा करने का सुअवसर ढूढ़ते रहते हैं।

१८. भगवत्प्राप्ति के असमोर्ध्व आनन्द का अनुभव प्रभु प्राप्ति करने पर ही सम्भव हो सकता है।

१९. भगवत-प्राप्ति की कामना वाले भक्त पूर्णतम परब्रह्म परमात्मा को बहुत प्यारे होते हैं।

२०. प्रभु-प्राप्ति की इच्छा होते ही स्वयं प्रभु अपने भक्त की प्राप्ति के लिए आतुर हो उठते हैं।

२१. प्रभु प्राप्ति की कामना वालों के हृदयाकाश में स्वयं भगवान, ज्ञान का सूर्य उदय करके उनके अज्ञान की निवृत्ति कर देते हैं तथा स्वयं अपने प्राप्ति के उपाय बनकर भक्तों को अपनी प्राप्ति करा देते हैं।

विरोधी स्वरूप :—

१. अविद्या अत्यन्त विरोधिनी है, वह जीव को हरि सन्मुख नहीं होने देती, स्वप्रयत्न में लगाकर प्रकृति के बंधन से बाँधे रहती है। विपरीत ज्ञान और अन्यथा ज्ञान की वह जननी है।

२. अस्मिता (मैं पने का ज्ञान) वृहद रूप धारण कर अहंकार के नाम से पुकारी जाती है, उसके रहते स्व स्वरूप, पर स्वरूप, उपाय स्वरूप और फल स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। अभिमान सम्पूर्ण शोकों को जन्म देने वाला पिता है।

३. ममकार (ममत्व) मृत्यु का दूसरा स्वरूप है। देह सम्बन्धित वस्तुओं से ममता करके जीवात्मा रागद्वेष की अग्नि में जलता रहता है। कभी काम, कभी क्रोध, कभी लोभ, कभी मोह उत्पन्न होकर सर्वदा जीवात्मा को क्लेश का शिकार बनाये रहते हैं।

४. समस्त माया का परिवार, प्रबल विरोधी है, इनके स्पर्श से परमार्थ का ज्ञान विलीन हो जाता है।

५. पाप, पुण्यश्लोक भगवान के नाम को मुख में नहीं आने देते, भगवच्चरित्र को कर्ण में नहीं पड़ने देते और रूप के ध्यान का प्रयास तक नहीं करने देते। अस्तु नारकी जीवन को लेकर ही अपरमित काल तक जन्म मृत्यु के चक्कर काटने पड़ते हैं।

६. कुसंग से पवित्र हृदय वाले भी कलुषित हृदय के बन जाते हैं।

७. स्त्री संग से इतनी हानि नहीं होती जितनी स्त्री-लम्पट से होती है।

८. अकृत करण, भगवतापचार और भागवतापचार तथा असह्यापचार से प्राणी का पतन होता है, वह स्व-स्वरूप में स्थिर नहीं हो पाता, अस्तु दुख स्वरूप बना रहता है।

९. प्रकृति का सम्बन्ध किसी रूप से भी बनाये रहना परमात्मा-प्राप्ति रूप महाफल का विरोधी है।

१०. प्रकृति स्व-प्रयत्न में लगाकर जीव को हरि सम्मुख नहीं होने देती अस्तु जीव भगवत्-विरोधी-भावों का स्वरूप हो जाता है।

११. उपर्युक्त वार्ता के अनुसार विरोधी-स्वरूप पाँच प्रकार का है, स्व स्वरूप-विरोधी, पर स्वरूप-विरोधी उपाय-विरोधी, फल-विरोधी और आत्म-विरोधी अर्थात् विरोधी का भी विरोधी है।

—: ० :—

भक्त-महिमा (सन्त-स्वरूप)

१. विषय-सुख की प्राप्ति नरक में भी बिना यत्न के प्राप्त हो जाती है। अतएव बुद्धिमान पुरुष को विषय प्राप्ति के प्रयत्न में न लगकर आध्यात्मिक उन्नति में लगना चाहिए जिससे शाश्वत सुख की सम्प्राप्ति हो जाय।

२. सत् और असत् वस्तु का विवेक बिना सतसंग के सुलभ नहीं होता।

३. सतसंग ईश्वर की अनुकम्पा के बिना अप्राप्य रहता है, अस्तु तल्लाभ के लिए प्रभु से नित्य प्रार्थना करनी चाहिये।

४. प्रभु-कृपा से यदि संत मिल जायें तो श्रद्धा और विश्वास को संजोकर उनकी सेवा में संलग्न हो जाना चाहिये।

५. बिना महज्जनों के पादरजाभिषिक्त हुए अन्य साधनों से तत्व की प्राप्ति नहीं होती।

६. सन्त-समागम पाप की परम्परा को सर्वथा शून्य करके परम दुर्लभ भगवत्-प्रेम के साथ ज्ञान वैराग्य और सद्गुणों को प्रदान करता है।

७. जैसे अग्नि के सेवन से शीत, भय और अन्धकार की निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार सन्तों के सेवन से जड़त्व की निवृत्ति होकर चिद्स्वरूप में स्थिति हो जाती है, चेतन अभय और प्रकाश स्वरूप हो जाता है।

८. भगवान को स्ववश करने के लिए जैसे सन्तों का संग समर्थ है, वैसे अन्य साधन नहीं हैं।

९. सन्तों की शारीरिक सेवा ठीक ही है किन्तु वास्तविक सेवा यह है कि उनके मन में अपना मन मिलाकर उनका अनुवर्तन करे।

१०. भगवत्-प्रेमी सन्तों के क्षणिक समागम से जिस सुख की अनुभूति होती है, उसकी तुलना में स्वर्ग और अपवर्ग का सुख जब नगण्य है, तब सांसारिक सुख की क्या चर्चा की जाय ?

११. भगवत्-भक्तों की महिमा के महान सागर की इयत्ता करना किसी सुर, नर और मुनि के वश की बात नहीं है।

१२. भगवद्दास भगवान से भी बढ़कर मनीषियों के द्वारा कहे गये हैं।

१३. सन्त, ब्रह्म-रेख को भी मिटा देने में समर्थ होते हैं।

१४. जो भक्त कहते हैं, वह भगवान को करना पड़ता है, भक्त प्रतिज्ञा के निर्वाहार्थ वे अपना प्रण परित्याग कर देते हैं।

१५. भगवान को, भक्तों के अधीन बने रहने में आनन्द आता है।

१६. भगवान को भक्तों के समान ब्रह्मा, शिव, संकर्षण, लक्ष्मी और अपनी आत्मा भी प्रिय नहीं है।

१७. भक्त, भगवान को अपनी भक्ति से वश किये रहते हैं, जैसे सत् पत्नी अपने सत्पति को।

१८. भगवान, अपने भक्तों को ब्रह्मादि देवताओं से भी पुजवाते हैं और स्वयं भक्तों की महिमा को प्रकाश में लाने के लिये उनके पीछे पीछे चलते हैं और उनकी चरण-रेणु के स्पर्श से अपने को पवित्र समझते हैं।

१९. भक्तों के प्रति किये गये किसी के अपराध को भगवान न सहते हैं और न क्षमा ही करते हैं।

२०. भक्तों की रक्षा के लिए एवं उन्हें सुख पहुंचाने के हेतु भगवान अवतार लिया करते हैं।

२१. जैसे पिता का सर्वस्व पुत्र का होता है उसी प्रकार भगवान का सर्वस्व भक्तों का होता है ।

२२. अनन्त-भक्त यदि अनन्त-भगवान की अनन्त वस्तु के अधिकारी हुए तो वे सब अनन्त वस्तु ही प्राप्त करते हैं इसलिए जगत की तरह पुत्रों के बटवारा में झगड़ा नहीं होता और भक्तों के ले लेने पर भी भगवान के पास अनन्त वस्तु ही शेष रह जाती है ।

२३. भगवान, अपने अनन्य भक्त का सर्व प्रकारेण योग-क्षेम करते हैं, वे भक्तों के लिए नीच से नीच काम करने में संकोच नहीं करते ।

२४. भक्त ही भगवान की सत्ता, महत्ता और भगवत्ता को प्रकाश में लाते हैं ।

२५. भक्त न हों तो भगवान को कौन जाने, जैसे आँख न हो तो सूर्य के प्रकाश का ज्ञान कौन करे ?

२६. भक्त न हों तो देवता, ब्राह्मण, गाय, पृथ्वी और पितृ-गण दुख के गर्त ही में पड़े रहें ।

२७. भक्त लोग यदि संसार में न होते तो यह जगत जल कर खाक हो जाता, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य देकर जीवों का उद्धार कौन करता ।

२८. भक्त लोग भगवान के हृदय हैं और भगवान साधुओं के हृदय हैं ।

२९. सच्चे भक्तों का दर्शन दुर्लभ अगम्य और अमोघ होता है ।

३०. मूर्ति और तीर्थ, साधक को बहुत दिन के सेवन से पवित्र कर पाते हैं किन्तु साधु लोग दर्शन मात्र से बड़े बड़े पापियों को पवित्र बना देते हैं ।

३१. श्री गंगाजी के दर्शन और सेवन से पाप, चन्द्र दर्शन से ताप और कल्पवृक्ष के प्रतीति पूर्ण सेवन से दरिद्र नष्ट हो जाता है किन्तु साधु समागम से पाप ताप और दैन्य तीनों नष्ट हो जाते हैं ।

३२. महज्जनों का विचरण गृह मेधियों के कल्याण के लिए होता है ।

३३. साधुओं के अंग-स्पर्श से पतित पावनी गंगाजी के पाप का शमन हो जाता है, जो पापियों के स्पर्श से उनमें आ गया था ।

३४. भगवद्भक्तों की शीथ-प्रसादी ग्रहण करने से एक एक कवल में सैकड़ों चन्द्रायण व्रत का पुण्य निहित रहता है ।

३५. सन्तों की उच्छिष्ट प्रसादी को सेवन करके एक दासी कुमार, देवर्षि नारद बन गया ।

३६. कलियुग में सन्त-प्रसादी अनजान में सेवन करके एक गोह यादव प्रकाश नाम का विद्वान सन्यासी हो गया जिन्हें श्री रामानुजाचार्यजी महाराज के विद्यागुरु बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

३७. अहा ! भक्तों के पाये हुए अन्न में क्या विचित्र स्वाद है जिसके लालच में पड़कर भगवान कृष्ण पाते हुए गोपकुमारों के पत्तल से उठा उठा कर पाने लगे थे ।

३८. यद्यपि सन्त सर्व प्रकारेण हीन बने रहते हैं, फिर भी उनकी समता करने योग्य कोई नहीं होता।

३९. यद्यपि सन्त शान्ति जल में सदा निमग्न रहते हैं तद्यपि उनका तेज अग्नि और सूर्य के समान होता है।

४०. सन्त किसी को न श्राप देते न आशीर्वाद, शम, दम, सन्तोष सदा धारण किये रहते हैं, फिर भी सन्तो के सेवकों का परम कल्याण और विरोधियों का सर्वनाश हुए बिना नहीं रहता।

४१. परम पद-प्राप्ति के लिए भागवतों का सम्बन्ध पर्याप्त है और नरक प्राप्ति के लिए उनका अपचार मात्र पर्याप्त है।

४२. भागवतापचार करने वाले का एक हाथ गुरुदेव और एक हाथ श्रीं जी पकड़ कर पुरुषकार करें तब भी उसे परम गति अत्यन्त दुर्लभ ही रहेगी।

४३. जैसे पृथ्वी फट जाय तो सीना असाध्य है, पहाड़ टूट कर गिर पड़े तो पुनः उन्हें खड़ा करना असाघ्य है और समुद्र में बाढ़ आ जाय तो उसे रोकना असाघ्य है, उसी प्रकार भागवतापचार भी असाध्य है।

४४. भक्ति-भावना से भावित भक्त समस्त भुवनों को पवित्र करने में समर्थ होता है।

४५. भक्त जहाँ रहते हैं वहीं तीर्थ हो जाता है।

४६. भक्त जो बोलते हैं वहीं शास्त्र कहा जाता है।

४७. भक्त जो करते हैं वही सुकर्म संज्ञा को प्राप्त होता है।

४८. मन, वचन और कर्म से परोपकार करना सन्तों का सहज स्वभाव होता है क्योंकि वे बड़े उदार आशय वाले होते हैं।

४९. सन्त सदा संसार से असंग बने रहते हैं।

५०. सन्त सर्वदा अपनी आत्मा में रमण करते हैं या भगवान में या सतसंग में।

५१. संतों की रहनी, कथनी और करनी शास्त्रानुमोदित होती हैं।

५२. विधि-निषेध-पार जो संत हैं वह हमेशा तुर्यावस्था में ही स्थित रहते हैं।

५३. संत सदा अमानी रहकर दूसरे को मान देते हैं।

५४. भक्त, भागवत् धर्मों को अपने में आरोपित किये रहते हैं।

५५. द्वादश अध्याय गीता के अनुसार भक्तों का सहज स्वभाव बन जाता हैं।

५६. भक्त, भगवान के नाम, रूप, लीला और धाम का चिन्तन करके प्रेम विभोर बने रहते हैं।

५७. विरही भक्त में विरह की दशों दशाओं का दर्शन होता रहता है।

५८. प्रेम-योगी भक्त परम श्रेष्ठ है वह भगवान की आत्मा ही होता है।

५९. भगवान में ही जिनके चित्त व प्राण लगे रहते हैं वे भक्त प्रभु को बहुत प्यारे होते हैं।

६०. हरि-भक्त जिसे देख लेते हैं या जो हरि-भक्तों को देख लेता है, वह भवरोग से मुक्त हो जाता है।

६१. भगवद्दर्शन साधन और भागवत्-दर्शन साध्य है।

६२. भगवान कें द्रवीभूत होने पर ही साधु समागम सुलभ होता है।

६३. सन्त किसी भी जाति एवं योनि में उत्पन्न होकर श्लाघनीय और पूजनीय होते हैं।

६४. सन्तों के जाति-परीक्षण से मातृ-योनि परीक्षा के समान दोष घटता है।

६५. सन्तों के चरणों को भवसागर से पार करने वाली सुदृढ़ नाव समझना चाहिये।

६६. मेघ को देखकर जैसे मोर नाच उठते हैं, उसी प्रकार सद्गृहस्थ का मन भगवत्-भक्त को देखकर नृत्य करने लगता है।

६७. समदर्शी, निर्पेक्ष सन्त अपने संगी को अपने समान बना लेते हैं। अस्तु, उनकी उपमा पारस भी नहीं कर सकता।

६८. सन्त, स्वयं दुख सहकर समीपवर्ती प्राणियों को सुखी करते हैं जैसे दीपक स्वयं जलकर समीप प्रान्त को प्रकाशित करता है।

६९. पर-दुख से द्रवीभूत होना सन्तों का सहज स्वभाव होता है।

७०. सन्त समाज चलता फिरता प्रयाग है, जहाँ रामकथा रूपी सुर-सरिता तथा कर्म-कथा रूपी कलिमल-हरणी यमुना और ब्रह्म-विचार रूपी सरस्वती का सुन्दर संगम शोभायमान रहता है।

७१. सन्त-समाज रूपी प्रयाग में स्नान करने का चमत्कार तत्क्षण दृष्टिगोचर होता है, काक कोयल और बक हंस बन जाते है।

७२. सन्त परमार्थ-स्वरूप एवं भगवत्-स्वरूप होते हैं, अस्तु उनकी महिमा भगवान के समान अनन्त है।

७३. सन्तों में भगवान से कुछ वैलक्षण्य अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

७४. सन्त-हरि-गुरु और श्रुति-शास्त्र की महिमा समझकर तद्भक्ति में संलीन रहते हैं तथा उनके प्रभाव का प्रचार-प्रसार करके तत्सम्बन्धी ज्ञान का विवर्धन करते हैं।

७५. सन्त-सेवन से प्राकृतिक एवं परमार्थिक कोई भी सिद्धि, सिद्ध हुए बिना नहीं रह सकती, कोई साध्य असाध्य नहीं रह सकता।

७६. सन्तों के बताए हुए पथ का पथिक बनकर परमार्थ शोधन करना चाहिये अन्यथा बीहड़ वन में भटकते भटकते थक कर दुखी होना पड़ेगा।

शास्त्र-महिमा

१. कार्य और अकार्य में शास्त्र ही प्रमाण है।

२. मार्ग वही है जिसका निरूपण श्रुति-शास्त्र में किया गया है।

३. शास्त्र विधि की अवहेलना करके जो कुछ किया जाता है, उससे कर्ता को न सिद्धि मिलती न सुख और न उत्तम गति ही प्राप्त होती है।

४. शास्त्राज्ञा, स्वयं सृष्टि के स्वामी की आज्ञा है, उसका निरादर कर कोई भी दण्ड से बच नहीं सकता।

५. वेद-शास्त्र को न मानने वाले ही नास्तिक कहलाते हैं।

६. शास्त्र निन्दक को कल्पों रौरव नरक में अपना आवास बनाना पड़ता है।

७. शास्त्र के मर्म को अच्छी तरह समझ कर तद्रूप बन जाना चाहिये।

८. भक्ति-ज्ञान एवं वैराग्य के नाम पर श्रुति-पथ का त्याग कभी नहीं करना चाहिये।

९. ऊंची स्थिति में पहुंचने का दृढ़ निश्चय होने पर भी शास्त्राज्ञा जान कर छोड़ देने से पतन का भय अवश्य होता है।

१०. जान बूझ कर शास्त्र धर्म छोड़े नहीं जात, ऊंची स्थिति में पहुंचने पर स्वयं छूट जाते हैं।

११. ऊंची स्थिति में पहुंचकर साधक विधि-निषेध से पार हो जाता है, यह शास्त्राज्ञा ही है।

१२. ऊंची स्थिति में पहुँचने का विज्ञापन प्रकाशित करने के लिए जान कर विधि-निषेध-पार होने का स्वांग नहीं करना चाहिये।

१३. भरी नदी में प्रवेश कर बीच ही में पार हो जाने का स्वांग करने वाला प्रवाह में बह कर मर जाता है।

१४. विधि-निषेध के पार होने की स्थिति स्वयं साधन करते करते जब आ जाती है अर्थात् मन संकल्प हीन हो जाता है और अहंकार ममकार का बीज भस्म हो जाता है तब उस स्थिति में विधि-निषेध का स्मरण ही नहीं रहता है, कर्म करने और न करने से भी कोई प्रयोजन नहीं रहता, इच्छा और अनिच्छा तथा ग्रहण-त्याग का आग्रह नहीं रहता, साधक सदा स्वरूप में स्थित बना रहता है।

१५. यद्यपि ज्ञानी को शास्त्र-प्रयोजन नहीं है वह सदा सच्चिदानन्द स्वरूप बना रहता है तद्यपि ज्ञानी जन भी लोक संग्रह के लिए अज्ञानियों के बीच में रह कर अज्ञानियों के समान ही शास्त्र-विधि और निषेध के अनुसार कर्म करते हैं जिससे संसारियों की बुद्धि में भेद न उत्पन्न हो।

१६. ऋषभ देव जी की स्थिति को न समझ केवल ऊपर की रहनी (शास्त्र विधि से विहीन) को देख सारा बागियों का एक शास्त्र-विरोधी पंथ ही खड़ा हो गया, इसलिए विद्वान को शास्त्र-संरक्षण करना चाहिए।

१७. श्रुति-शास्त्र की महिमा महान है, जिसकी निन्दा करने से भगवान का बुद्धावतार भी निन्दनीय हो गया।

१८. भगवान ने सृष्टि करके उसके संचालन का जो नियम बनाया उसी को वेद कहते हैं। अस्तु उसके प्रतिकूल आचरण

करने से सृष्टि में संचरण करने वाले जीवों की अव्यवस्था होना स्वाभाविक है।

१९. वेद विरुद्ध आचरण करने वाले भगवान की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, अस्तु ईश्वर की आज्ञा की अवहेलना करने वाला सुखी कैसे रह सकता है।

२०. वेद की नाव में चढ़कर ही दुस्तर भवसागर को पार किया जा सकता है।

२१. शास्त्र के सम्मान एवं संरक्षण से भगवान प्रसन्न होते हैं।

२२. शास्त्र स्वयं भगवान का अवतार है, अस्तु, तदाधीन रहना जीव के स्वरूपानुरूप है।

२३. शास्त्र के सर्वथा रहस्यार्थ का ज्ञान रखने से ही सदाचार्यत्व का संरक्षण सम्भव है।

—:०:—

सद्‌गुरु-स्वरूप

१. सद्‌गुरु वही है जो अपने ज्ञान-सूर्य से शिष्य के मोह-जनित अज्ञान के निबिड़-तम को दूर करने में समर्थ होता है।

२. सद्‌गुरु वही है जो सत्यपथ का अनुसरण करके सत्य को (परमात्मा को) प्राप्त कर लिया है।

३. सद्‌गुरु वही है जो शाब्द ब्रह्म और परब्रह्म का पूर्ण अनुभवी है।

४. सद्‌गुरु वही है जो प्रस्थान त्रयी का विद्वान है।

५. सद्‌गुरु वही है जो रहस्य त्रयी विद्या में निष्णात है।

६. सद्‌गुरु वही है जिसने ब्रह्मविद्या एवं वैष्णवीय विद्या के परम लक्ष्य की प्राप्ति कर ली है।

७. सद्‌गुरु वही विप्र हो सकता है जो अपने आचार्य का परम भक्त है।

८. सद्‌गुरु वही हो सकता है जो शास्त्र, सन्त और भगवान में निष्ठावान है।

९. सद्‌गुरु वही है जो श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ है।

१०. सद्‌गुरु वही है जो सम्पूर्ण शास्त्रों का आलोडन करके तदर्थ को अपने में आरोपित कर लिया है।

११. सद्‌गुरु वही है जो ब्रह्म-विद् और ब्रह्म-द्रष्टा होकर ब्रह्मस्वरूप हो गया है।

१२. सद्‌गुरु वही है जिसके हृदय-गगन में सच्चिदानन्द का सूर्य एकरस उदित बना रहता है अर्थात् जो ज्ञान स्वरूप हो गया है।

१३. सद्गुरु वही है जो शान्त, दान्त अर्थात शम दमादि सम्पत्तियों से संयुक्त होकर परम विरक्त है।

१४. सद्गुरु वही है जिसके हृदय की जड़ चेतनात्मक ग्रन्थि भली भाँति छूट गई है।

१५. सद्गुरु वही है जो संशय हीन है और जिसके कर्म क्षीण हो गये हैं।

१६. सद्गुरु वही है जो निर्द्वन्द्व एवं भावातीत हो गया है।

१७. सद्गुरु वही है जो देहाभिमान, स्वरूपाभिमान, उपायाभिमान और उपेयाभिमान से रहित है।

१८. सद्गुरु वही है जो कर्तृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान और ज्ञातृत्वाभिमान से अछूता रहता है।

१९. सद्गुरु वही है जो ममता रूपी मृत्यु का कवल नहीं बनता।

२०. सद्गुरु वही है जो पंच क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेष) से मुक्त है।

२१. सद्गुरु वही है जो क्षमा, दया, करुणा और कृपा की मूर्ति हो गया है।

२२. सद्गुरु वही है जो समस्त हेय दोषों से रहित और सम्पूर्ण श्रेय गुणों से युक्त हो गया है।

२३. सद्गुरु वहीं है जो अपने आचार्य-प्रदत्त मूल मन्त्र का भक्त होकर आचार्य परम्परा का विस्तार करता है।

२४. सद्गुरु वही है जो भगवदभक्ति की भागीरथी में स्वयं निमज्जन करता हुआ अपने शिष्यों को उसमें अवगाहन करने की प्रेरणा देता है।

२५. सद्गुरु वही है जो प्रभु-प्रेम की साकार मूर्ति होता है जो अपने संगियों के हृदय-स्थल में प्रेम की पयस्वनी बहाने के लिए प्रयत्नशील बना रहता है।

२६. सद्गुरु वही है जो दृष्टान्त और युक्तियों के माध्यम से शिष्यों की बुद्धि को सूक्ष्म बनाने में कुशल होता है।

२७. सद्गुरु वही है जो शिष्य के संसार सम्बन्ध को निर्बीज कर ब्रह्म-सम्बन्ध को सम्पुष्ट करने की क्षमता से युक्त होता है।

२८. सद्गुरु वही है जो शिष्य के हित में लगा रहता है।

२९. सद्गुरु वही है जो स्वयं भगवत् शरणागति कर करके शिष्य के कल्याणार्थ प्रभु से प्रार्थना किया करता है।

३०. सद्गुरु वही है जो शिष्य के अहित एवं अपराध करने पर भी उसके मंगल की कामना किया करता है।

३१. सद्गुरु वही है जो सदा स्वार्थ विहीन बना रह कर ईश्वर के विनियोगानुकूल शिष्यों को बनाने में सदा सचेष्ट रहता है।

३२. सद्गुरु वही है जो सदशिष्य पर अपने पुत्र और आत्मा से भी अधिक राग विहीन प्रेम करता है।

३३. सद्गुरु वही है जो शिष्य की परम्परा अपने लिए नहीं बढ़ाता अपितु भगवान के मंगलानुशासन के लिए शिष्य करता है।

३४. सद्गुरु वही है जो शिष्य के सम्बन्ध तोड़ देने पर भी उससे द्वेष न कर उसके कल्याण की कामना करता है।

३५. सद्गुरु वही है जो शिष्य को परम पद पाने की समस्त सामग्री प्रदान कर स्वयं शिष्य के हाथ के नीचे अपना हाथ रखने का स्वप्न नहीं देखता।

३६. सद्गुरु वही है जो शिष्य से साभिमान समर्पित वस्तु को विष समझता है।

३७. सद्गुरु वही है जो समस्त अज्ञापित अर्थों का ज्ञापन शिष्य को कराता है।

३८. सद्गुरु वही है जो शिष्य को अपना सर्वस्व (ज्ञान-सम्पत्ति) दान करने के लिए शिष्य को सद्ग्रहीता बनने की प्रतीक्षा किया करता है।

३९. सद्गुरु वही है जो अकारण सर्व भूतों का सुहृद होता है और उन्हें सत् पथ में लगाने की चेष्टा करता है।

४०. सद्गुरु वही है जो अपनी वाङ्मयी सेवा से सदा प्रसन्न किन्तु कर्तृत्वाभिमान से दूर रहता है।

४१. सद्गुरु वही है जो सर्वदा सदाचार से संयुक्त रहकर अपनी रहनी से सबको अपनी ओर आकर्षित किये हुए बिना मुख से उपदेश दिये हुए सुशिक्षित बनाता रहता है।

४२. सद्गुरु शिष्य के लिए शरीरी के समान, धर्मो के समान और पति के समान कल्याणकारी होता है।

सद्शिष्य-स्वरूप

१. सद्शिष्य, सर्वभावेन सद्गुरु के अधीन रहता है।

२. शिष्य सद्गुरु के सन्निकट, शरीर के सदृश, धर्म के सदृश और भार्या के सदृश रहता है।

३. शिष्य सद्गुरु को सर्व समर्पण करके ही निश्चिन्त रहता है।

४. सद्शिष्य, अपने आचार्य के विकसित मुखाम्भोज को ही परम भोग्य समझता है।

५. सद्शिष्य, आचार्य-कैंकर्य के लिए ही शरीर धारण करता है और उसकी रक्षा गुरु-प्रसाद से गुरु-प्रयोजन के लिए करता है।

६. आचार्य की सेवा के बिना सद्शिष्य स्व-शरीर को नहीं सहता।

७. सद्शिष्य, स्वाचार्य के देह की चिंता रखता हुआ शुश्रूषा-परायण बना रहता है।

८. सद्शिष्य, आचार्य के देह को उतनी ही उपयोगी समझता है जितनी उनकी आत्मा को।

९. सद्शिष्य, आचार्य दर्शन के बिना प्राप्त परमपद को अस्वीकार कर देता है।

१०. सद्शिष्य आचार्य-दर्शन के अभाव में भगवद्दर्शन की कामना कदापि नहीं करता।

११. आचार्य के विरह में प्राण-परित्याग करने वाले कई सद्शिष्यों ने आचार्यानुरक्ति की चरम सीमा संसार के सामने समुपस्थित कर दी है।

१२. कई सद्शिष्यों ने भगवान से आचार्य-महिमा आचार्य-निष्ठा, आचार्य-प्रेम, आचार्य-कैंकर्य, आचार्य-अनन्यता और आचार्य-निर्भरता का वर्णन करके एवं तत-स्थिति में रहकर भगवान को केवल निरुत्तर ही नहीं किया अपितु अपने अधीन बना लिया है।

१३. बहुत के सद्गुरु-सेवी शिष्य, लोक-वेद अर्थात् सच्चे स्वार्थ और परमार्थ को प्राप्त कर उभय लोक में बड़भागियों की पंक्ति में बैठने का सौभाग्य अर्जन कर लिए हैं।

१४. सद्शिष्य, अपने सदाचरण से आचार्य के गौरव को बढ़ाता रहता है।

१५. सद्शिष्य, आचार्य कीर्ति के विमल पताके को फहराने के लिए अपने यश-विस्तारक आचरण को उच्चतम दण्ड बना देता है।

१६. उत्तम शिष्य वह है जो आचार्य की इच्छा को अपनी इच्छा एवं उनके सुख को स्व-सुख समझकर तदनुष्ठान में लगा रहता है।

१७. सद्शिष्य स्वाचार्य के हित और प्रिय के करने में सर्वदा संलग्न रहता है।

१८. सद्शिष्य, अपने आचार्य का सदा मंगलानुशासन करना स्व-स्वरूप समझता है।

१९. सद्शिष्य, स्वरूपज्ञ होता है।

२०. सद्शिष्य, रहस्यत्रयी विद्या का विद्वान और मूल-मन्त्र का भक्त तथा अर्थ में पूर्ण अधिकार रखने वाला होता है।

२१. सद्शिष्य आचार्योपदिष्ट वार्ता को प्रीति, प्रतीति और सुरीति के साथ धारण करता है।

२२. सद्शिष्य, पंच-संस्कार-संस्कृत, अर्थ-पंचक-तत्वज्ञ, अकार त्रय सम्पन्न और तत्व त्रय का विशेषज्ञ होता है।

२३. सद्शिष्य में जिज्ञासा, पारतन्त्य, अकिंचनत्व, अगतित्व, आचार्यानुरक्ति, आचार्य-शुश्रूषा और आत्म-समर्पण इत्यादि सभी अधिकारी कृत्य विद्यमान रहते हैं।

२४. सद्शिष्य, सद्गुरु की प्रतिमूर्ति होता है।

२५. सद्शिष्य, देहाभिमान, स्वरूपाभिमान, उपायाभिमान और उपेयाभिमान से रहित होता है।

२६. सद्शिष्य, आचार्य-कैंकर्य में संलग्न रहने के कारण जगत को तो सर्व भावेन भूल ही जाता है, साथ ही भगवान को तथा गुरु-कैंकर्य से अतिरिक्त अन्य लक्ष्य को भी भूल जाता है।

२७. सद्शिष्य, आचार्य-शुश्रूषा से आचार्य एवं श्री जी सहित भगवान की पूर्ण कृपा प्राप्त कर सभी प्राप्तव्य वस्तुओं के पाने का अधिकारी बन जाता है।

२८. सद्शिष्य, स्वार्थ-परमार्थ के सम्पूर्ण सुखों की ओर स्वप्न-मात्र में मुख नहीं फेरता।

२९. सद्शिष्य, के ज्ञान में आचार्य से अतिरिक्त कोई परमतत्व नहीं है।

३०. सद्शिष्य, अपने आचार्य के विरह जन्य क्लेश के आगे सामूहिक महान विपत्तियों को नगण्य समझता है और वियोगाग्नि में भस्म हो जाता है।

३१. सद्‌शिष्य, आचार्य-योग-जनित सुख के सामने दृष्ट-अदृष्ट समस्त सुखों को कुछ नहीं समझता।

३२. सद्‌शिष्य, आत्म-समर्पण के कारण अपनी देह-यात्रा और आत्म-यात्रा की चिन्ता नहीं करता।

३३. सद्‌शिष्य भी अन्न, जल, वस्त्रादि से शरीर का पोषण करते से देखे जाते हैं किन्तु वे शरीर को आचार्य का अंग समझ कर आचार्य प्रसाद से ही उसकी रक्षा करते हैं और वह इसलिए कि आचार्य-सेवा में शरीर त्रुटि न करे अर्थात् स्व शरीर रक्षा की क्रिया भी आचार्य-कैंकर्य ही है।

३४. सद्‌शिष्य, भगवान की सेवा, पूजा, भजन, भावना और स्वाध्यायादि का अनुष्ठान आचार्य-कैंकर्य मानकर ही करता है।

३५. सद्‌शिष्य, धरा धाम में आचार्य को छोड़कर परम पद जाने की तैयारी को देख असहिष्णु हो जाता है।

—:०:—

यम-नियम-महिमा

१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पंच महाव्रतों को यम कहते हैं, जो प्रत्येक देश, काल, परिस्थिति और जाति में अपरिहार सबके सेवन करने योग्य हैं।

२. पंच महाव्रतों के अभाव में कर्म, ज्ञान, भक्ति और अष्टांग योगादि साधनों से सिद्धि का दर्शन दुर्लभ ही रहता है और इन व्रतों के पालने से अल्प साधन से सिद्धि सुलभ रहती है।

३. त्रिविध अहिंसा की प्रतिष्ठा से व्रती के समीप में आने वाले या रहने वाले हिंसक जीव भी सहज वैर का परित्याग कर किसी को कष्ट नहीं देते और साधु स्वभाव से सम्पन्न हो जाते हैं। त्रिकरण अहिंसा व्रत के बिना जो कहते हैं कि हमारे आश्रम में सिंह पालतू पशु के समान आया करता है, केवल विज्ञापन मात्र है। पेट भरने के लिए ठग्गू बनिये का व्यापार है।

४. मन, वचन, कर्म से सत्य में स्थिति हो जाने पर सत्याश्रयी को वाक्-सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है, उसके दिये हुए आशिर्वाद और श्राप सत्य होकर रहते हैं।

५. त्रिकरण अस्तेय में अधिकार हो जाने पर अधिकारी के सामने उत्तम-उत्तम रत्न स्वयं आ जाते हैं।

६. सर्व भावेन ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से विशेष बल की प्राप्ति होती है।

७. अपरिग्रह से अपरिग्रही को अपने पूर्व जन्म का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

८. शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पंचव्रत-पंच नियम कहलाते हैं।

९. बाह्य शौच अर्थात् स्नानादि क्रिया करते करते-शरीर से घृणा उत्पन्न हो जाती है। जब स्व शरीर से घृणा हो गई तो दूसरे के शरीर से स्पर्शजनित सुख की कामना एवं राग कैसे हो सकता है—यही बाह्य-शौच की सिद्धि है।

१०. अन्तः शौच अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि से मन सौम्य हो जाता है, चित्त की चंचलता मिट जाती है, बुद्धि में सूक्ष्मता और विशुद्धता आ जाती है। तत्पश्चात आत्म दर्शन की योग्यता सहज संप्राप्त हो जाती है।

११. पंचेन्द्रियों के आहार शुद्धि से सत्वशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि होती है और सत्व-शुद्धि से स्मृति-शुद्धि होती है।

१२. सन्तोष धारण करने से सन्तोषी को अत्युत्तम सुख की प्राप्ति होती है।

१३. तपस्या से काय-सम्पत्ति की प्राप्ति, एकाग्रता इन्द्रिय-विजय और आत्मबल की वृद्धि होती है।

१४. स्वाध्याय (मन्त्रानुष्ठान, स्तोत्र पाठादि) से इष्ट देवता का संप्रयोग होता है।

१५. ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् परमात्मा की प्रपत्ति से समाधिजा सिद्धियों की प्राप्ति विघ्नों की निवृत्ति, कैवल्य, परमपद, भगवत् व भगवतधाम प्राप्ति तथा भगवत्-प्रेम और भगवत्-कैंकर्य की प्राप्ति होती है।

कृपा वैभव

१. भगवत्-कृपा का समीक्षण करते हुए नित्य नित्य उसकी प्रतीक्षा में कालक्षेप करने से जीव प्रभु कृपा का पूर्ण अधिकारी बन जाता है।

२. दीन होकर जो क्षण क्षण कृपा के पंथ का चिंतन करता है वह कृपा-सिन्धु के सर्वस्व को अपना बना लेता है।

३. जो प्रभु कृपा को प्रभु प्राप्ति का परमोपाय मानता है वह तत्वतः शास्त्रों एवं साधनों के रहस्य को जानता है।

४. कृपा का बल, जीव को शिशु के लिए माता के दूध के समान पुष्टिकर है।

५. बिना कृपा बल के स्वाभिमान युक्त साधन किसी काल में सिद्धि प्रदान नहीं कर सकते।

६. बिना प्रभु-कृपा से साधनों में प्रीति भी नहीं उत्पन्न होती।

७. शास्त्रों में साधनों के अनुष्ठान का वर्णन साधनाभिमान को छुड़ाकर ईश्वर की कृपा को परमोपाय समझने के लिए है।

८. ईश्वर निरपेक्षोपाय है। वह अपनी अहैतुकी कृपा से जीव का उद्धार करने के लिए स्वयं कटिबद्ध है।

६. निरपेक्षोपाय प्रभु की प्राप्ति के लिए अपने साधन का बल दिखाना अर्थात् उपायाभिमान करना परम प्रभु का अपचार है।

१०. जीव रक्षा के लिए परम कृपालु प्रभु के बढ़े हुए हाथ को रोक देना यह है कि जीवात्मा अपने साधन के बल से स्वयं भव सिन्धु के पार होना चाहे।

११. प्रभु-कृपा का आश्रयण परित्याग कर स्व प्रयत्न का अवलम्बन लेने से स्व स्वरूप (शेषत्व, पारतन्त्र्यत्व और दासत्व) की हानि होती है।

१२. बिना कृपा के आश्रयण से चलने वाले पथिक को पग पग पर ठोकरें खानी पड़ती हैं।

१३. प्रभु-कृपा का आश्रयण करने से जीव की सुरक्षा पग पग में वैसी ही होती है जैसी जननी के द्वारा अपने अबोध शिशु की।

१४. कृपा के अतिरिक्त, अन्योपाय के आश्रयी के स्वरूप की अग्नि अहं के राख से आच्छादित बनी रहती है।

१५. भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम का प्रेम एवं अन्य अन्य प्रकारों से भक्ति-निष्ठा तथा कर्म, ज्ञान और अष्टांग योग की सिद्धियाँ प्रभु-कृपा से ही प्राप्त होती है।

१६. ईश्वर-कृपा के बिना सारे साधन उसी प्रकार से सूख जाते हैं जैसे बिना श्रोत के जलाशयों का जल।

१७. बिना प्रभु की कृपा से जीव का निस्तार अर्बों खर्बों कल्प तक नहीं हो सकता।

१८. करोड़ों कल्पों की बिगड़ी हुई वार्ता प्रभु-कृपा से चौथाई पल में ही बन जाती है।

१९. ईश्वर की कृपा से क्या नहीं हो सकता अर्थात् सब कुछ हो सकता है क्योंकि वह सर्व समर्थ है।

२०. ईश्वर की कृपा पर जीव की निर्भरता उसकी कृपा से ही हो सकती है अन्यथा त्रिगुणात्मिका माया जीव को स्व

प्रयत्न में लगाकर परमात्मा से विमुख करने ही में लगी रहती है।

२१. सर्व प्रकारेण स्व प्रयत्न का बल टूटने पर ही प्रभु कृपा के बल में जीव अपना निर्वाह सोचता है।

२२. वास्तव में बड़ी-बड़ी शक्ति शालिनी विभूतियों की शक्तिमत्ता भगवत्-कृपा से ही प्राप्त होती है।

२३. भगवत् कृपा का पेय पीकर परम पुष्ट हो जाना किसी बड़भागी जीवात्मा के भाग्य में ही होता है।

२४. कृपा का निरादर करने वाले स्वाभिमानियों की दशा जयन्त जैसी होती है।

२५. कृपादेवी सर्वदा जीव को प्यार के साथ पालन-पोषण करने के लिए समुत्सुक रहती हैं किन्तु कुसंस्कारी जीव उनकी स्नेहमयी दृष्टि की ओर दृष्टि निक्षेप भी नहीं करते।

२६ कृपा के प्रभाव से, जीवको कर्मानुसार फल प्रदान करने को उद्यत ईश्वर भी द्रवीभूत होकर कृपा-कांक्षी का सर्व विधि कल्याण करते हैं।

२७. कृपा देवी की शक्ति अचिन्त्य और अनन्त है अस्तु परमात्मा को अपने आधीन बनाकर मनमानी कार्य कराने वाली होती है।

२८. अपनी कृपा की महिमा के सामने कृपासिन्धु को नत मस्तक होना पड़ता है।

२९. वही परम चतुर हैं जो प्रभु-कृपा पर निर्भर रहकर अपने योग-क्षेम का सर्वथा परित्याग किये रहते हैं तथा सर्वात्म समर्पण कर निश्चिन्त प्रभु कैंकर्य किया करते हैं।

३०. परमात्मा, न प्रवचन से, न सूक्ष्म बुद्धि से, न बहुश्रुत बनने से और न साधनों के संपादन से ही जीवात्मा को प्राप्त होता है। स्वयं वह अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा जिनका वरण कर लेता है वही जीव उस परमात्मा को प्राप्त कर सकता है।

३१. प्रभु अपनी कृपा से केवट, शबरी और गृद्ध के समीप जाकर स्वयं मिले और उनको अपना परमपद प्रदान किये।

३२. प्रभु अपने से शत्रुता करने वालों पर भी कृपा कर उद्धार किये हैं जैसे हिरण्याक्ष, रावण, शिशुपाल आदि।

३३. अपने को मार डालने की इच्छा से आई हुई पूतना का भी उद्धार प्रभु ने किया है, धन्य है उनकी भगवती भास्वती कृपा को।

३४. कृपासिन्धु की कृपा के अतिरिक्त अन्योपायों का अवलम्बन लेने वालों का मार्ग सदा विघ्न से परिपूर्ण रहता है।

३५. भगवान को छोड़कर अन्य कौन सा दयालु है जो दया-परवश होकर अपराधी की भी रक्षा करे।

३६. दया-सागर की दया से अपनी देह-यात्रा एवं आत्म-यात्रा करवाने का दृढ़ निश्चय कर जीव को निश्चिन्त हो जाना चाहिए।

३७. भगवत्कृपा का समीक्षण और प्रतीक्षण ही जीव के कल्याण का परमोपाय है।

३८. कृपा भगवती, भगवान को प्रेरित कर कृपा-पात्र जीव के सर्वविधि कल्याणार्थ सर्व प्रकार के कार्य करने को बाध्य करती रहती है।

नाम-वैभव

१. हरि-नाम की महिमा अनन्त और अत्यन्त पवित्र है जिसके गुण-गणों का वर्णन स्वयं प्रभु भी नहीं कर सकते।

२. ईश्वर की सम्पूर्ण शक्ति उनके नाम में निहित है।

३. श्री हरि और हरि-नाम में किंचित भेद नहीं है।

४. भगवन्नाम के धनुष में आत्मा रूपी बाण चढ़ाकर ब्रह्म रूपी लक्ष्य को अप्रमत्त होकर भेदना चाहिये जिससे तन्मयता प्राप्त हो जाय।

५. प्रभु के नाम में पापों को भस्म करने की शक्ति जितनी है उतनी पापात्मा में पाप करने की शक्ति नहीं है।

६. निरन्तर सप्रेम श्री हरि-नाम ग्रहण करने वाले के हृदय में हठात भक्ति, ज्ञान वैराग्य और सर्व सद्गुण अपना आवास बना लेते हैं।

७. श्री राम-नाम के जापक श्री हनुमान जी का रोम रोम राम नाम से अंकित हो गया था।

८. श्री राम-नाम के प्रभाव से प्रह्लाद जी को अग्नि, चन्दन के समान शीतल हो गई तथा कठिन से कठिन विघ्नों के दुरूह सागर से वे सहज ही बिना कुछ किये पार हो गये।

९. श्री कृष्ण-नाम जापक अर्जुन जी के सर्वांग से मधुर मधुर श्री कृष्ण-नाम की ध्वनि निकलती थी।

१०. गूढ़ से गूढ़ गतियों का ज्ञान एवं सम्पूर्ण योग की सिद्धियों की प्राप्ति नाम-जापक को हो जाती है।

११. अजामिल जैसा पापी अपने पुत्र का नाम (नारायण) लेकर और यवन, हराम कहकर (गाली देकर) भगवन्नाम पड़ने के कारण भवसागर पार हो गये। नाम के प्रभाव से अनन्त पापात्माओं का उद्धार हो गया है, हो रहा है और होता रहेगा।

१२. श्री भगवान से भगवन्नाम में अधिक आश्चर्यमय प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

१३. स्वर रहित राम-नाम के अक्षर रकार-मकार की जब उर्ध्व गति हो जाती है तब जापक को उर्ध्व गति क्यों न प्राप्त होगी। नाम लेते ही भवसागर का शोषण हो जाता है।

१४. भगवन्नाम की महिमा समझकर शंकर भगवान रात दिन राम नाम का जाप किया करते हैं।

१५. भगवन्नाम की 'र-रंकार ध्वनि प्राणियों के भीतर सर्वदा अपने आप ध्वनित होने के कारण ही वे जीवित रहते है।

१६. भगवन्नाम क्या नहीं करता और उससे क्या नहीं होता अर्थात् हरिनाम ही से सृष्टि का सृजन, संरक्षण और संहार होता है।

१७. राम नाम ही से सशक्ति त्रिविध देव उत्पन्न होकर जगत का कार्य किया करते हैं।

१८. जिसकी विवेक-प्रसवनी बुद्धि, सद्गुरु के वचनों में प्रीति-प्रतीति करने वाली हो गई वही भगवन्नाम की महिमा को समझने में समर्थ हो सकती है।

१९. नामी से अधिक नाम में रुचि होने से नामी के हृदय में नाम-जापक से अत्यन्त प्रीति करने एवं मिलने की रुचि उत्पन्न हो जाती है।

२०. परमात्मा अपने नाम की महिमा को समझकर स्वयं नाम का स्मरण करते ही नाम बन गया ।

२१. भगवान के नाम, रूप, लीला, धाम चारों परम तत्व सच्चिदानन्दात्मक है किन्तु समझने से नाम की महिमा कुछ और है क्योंकि नाम के ग्रहण से शेष तीनों की सुलभता अपने आप हो जाती है ।

—:o:—

रूप वैभव :--

१. भगवद्रूप-द्रष्टा के समस्त विरोधि वर्ग का शमन, दर्शन मात्र से करने वाला एवं अपने आप दर्शक से सर्व समर्पण कराने वाला सिद्ध होता है ।

२. भगवद्रूप केवल सुर नर मुनि को ही मोहित करने वाला नहीं है अपितु नभ-चर, थल-चर, जल-चर इत्यादि साधारण जीवों के मन को भी मोहित करने वाला है किंबहुना जड़ जीवों को भी अपने रुपौदार्य की ओर आकृष्ट कर चेतन की तरह मन-मुग्ध करने वाला है ।

३. भगवान के रूप का अनन्त सौंदर्य पुंसामोहन है वह मुनियों के मन को भी मुग्ध करके उन्हें स्त्रीत्व प्रदान किए बिना नहीं रहता ।

४. भगवान के सौन्दर्य-सिन्धु के बिन्दुमात्र से प्रकृति-प्रदेश के सौंदर्य का निर्माण होता है ।

५. भगवान श्रीराम के पद चिन्हों को गोदावरी की तटवर्ती भूमि में अंकित देखकर रावण की विधवा बहिन मोहित हो गई थी ।

६. भगवान के रूप को देखकर भगवत् द्वेषी भी आकर्षित हो जाते हैं।

७. भगवद्रूप को देखकर बड़े-बड़े ब्रह्म-विद् वरिष्ठ जो ब्रह्म स्वरूप ही हैं रूप के रागी हो जाते हैं।

८. भगवद्रूप का जादू, भव रोग-छुड़ाने में बड़ा चमत्कारिक सिद्ध हुआ है।

६. जब तक भगवान के रूप का दर्शन नहीं होता तभी तर ब्रह्म-विचार ब्रह्मज्ञानियों के द्वारा किया जा सकता है।

१०. भगवद्रूप को जितना भी देखें किन्तु नेत्र अतृप्त ही रहते हैं।

११. नव नव वर्धमान-भगवत्-सौंदर्य का अन्त ही नहीं होता है।

१२. भगवत्-सौंदर्य के समक्ष कोटि कोटि कामदेव एवं चन्द्र विलज्जित हो जाते हैं।

१३. भगवान का सौंदर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, सौष्ठव, लावण्य और लालित्यादि काय-वैभव सच्चिदानन्दमय और अनन्त होता है।

१४. भगवान, अपने सौंदर्य को दर्पण में देखकर स्वयं संप्रमुग्ध हो जाते हैं।

१५. भगवान, अपने सर्वांगीण सौंदर्य की समुपभोक्ता महा-लक्ष्मी जी के भाग्य-वैभव को देखकर उनकी प्रसंशा किये बिना नहीं रहते।

१६. "श्री" जी अपने सौंदर्य-सागर का अवगाहन कराके भगवान को जब अतिशयानन्द का अनुभव कराती हैं तब वे "श्री" जी से अधिक अपने को भाग्यशाली समझकर सुखी होते

हैं और श्री-पतित्व की अगोचर महिमा का अनुभव क रनिमग्न हो जाते हैं।

१७. भगवान का रूप मंगलमय है, वह अर्थ, धर्म, काम-मोक्ष को प्रदान करने वाला है।

—:०:—

लीला-वैभव :—

१. भगवान की लीला, भगवत्-प्रेम से ओतप्रोत कर देंने वाली होती है।

२. भगवल्लीला, भगवान को आर्कषित करके लीलाप्रिय कें समक्ष लाने में सर्व भावेन समर्थ होती है।

३. भगवल्लीला के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से भक्ति, ज्ञान वैराग्य स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं।

४. भगवल्लीला भगवान का स्वरूप ही है।

५. वे धन्य हैं जिन्हें भगवच्चरित्र भगवान से भी अधिक प्रिय मालूम होता है।

६. कर्म-योग के वितान का आश्रय तभी तक लेना चाहिये जब तक हरि चरित्र में अनुराग न उत्पन्न हो।

७. भगवच्चरित्र को पढ़कर, सुनकर और अनुकरण करके लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करना चाहिये।

८. भगवच्चरित्र में प्रेम रखने से उच्चतम लोक-लाभ भी होता है।

९. हरि-चरित्र से सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

१०. भगवल्लीला जहाँ होती है वहाँ सम्पूर्ण तीर्थ और देवता निवास करते हैं।

११. हरि-चरित्र हरि-जनों का प्राण एवं आहार है।

१२. हरि-कथा के रसिक जन हरि के साक्षात स्वरूप हैं।

१३. हरि-चरित्र के अनुरागी, श्रीमान शंकर भगवान तथा श्री हनुमान जी का स्मरण कर हरि-कथा श्रवण करने से आत्म हन्ता के अतिरिक्त कौन वंचित रह सकता है।

१४. भगवच्चरित्र अनन्त हैं और उनकी महिमा भी अनन्त है।

१५. जिसे प्रभु, शाश्वत सुख देना चाहते हैं उसी की अनुरक्ति उनके मंगलमय चरित्र में होती है।

१६. भगवान के चरित्र-चन्द्रिका की चांदनी से आत्माकाश प्रकाशित हो जाता है।

१७. भगवच्चरित्र, भवसागर से पार जाने के लिए दृढ़ नौका है।

१८. विज्ञानियों के विज्ञानत्व का चरम फल हरि-चरित्र में अनुराग होना ही है।

१९. श्री शंकर जी के समान भगवच्चरित्र का आहार सबको करना चाहिये।

२०. भगवान का चरित्र मंगलमय है, वह अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष को प्रदान करने वाला है।

—:०:—

धाम वैभव

१. भगवान जहाँ रहते हैं, उसे भगवद्धाम कहते हैं। भगवद्धाम अपुनरावर्ती है अर्थात् वहाँ जाकर जीव पुनः नहीं लौटता।

२. भगवद्धाम में सूर्य, शशांक और पावक नहीं हैं वह स्वयं प्रकाश स्वरूप परम अमल और परम ज्योति है।

३. भगवद्धाम में शोक, मोह, जरा, व्याधि और भूख प्यास नहीं होती।

४. भगवद्धाम, भगवान से अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु नहीं है।

५. भगवद्धाम, अक्षर और अव्यक्त है।

६. भगवत्-तत्वों से युक्त भगवान के धाम (निवास स्थान) को भगवत्-प्राप्त भक्त भगवान की तरह अनुभव किया करते हैं। अन्य के अनुभव का विषय वह कदापि नहीं बन सकता।

७. भगवद्धाम का प्रकाश ही ब्रह्म-ज्योति के नाम से कहा जाता है।

८. भगवत्-धाम त्रिगुणातीत होता है।

९. भगवद्धाम के कुन्ज एवं केलि सामग्रियाँ सबकी सब सच्चिदानन्दात्मक होती है।

१०. भगवद्धाम में भावातीत भगवान एवं भगवत्-प्राप्त भक्तों की आत्म-भावना का विसर्ग होता है जिसे नित्य निकुंज की नित्य लीला के नाम से पुकारा जाता है।

११. भगवद्धाम, भगवान एवं उनके प्रिय परिकरों की दिव्यात्म भावनाओं के केन्द्र का विस्तृत स्वरूप है जो सच्चिदानन्दात्मक है।

१२. भगवान का सच्चिदानन्दात्मक स्वरूप ही भगवद्धाम है।

१३. योग-द्रुम का परम पक्व निर्बीज फल (कैवल्य) भगवद्धाम

१४. ब्रह्म-विद् वरिष्ठों की ब्रह्म स्थिति भी भगवद्धाम का स्वरूप है।

१५. तुर्यगावस्था का तारुण्य भगवद्धाम का ही स्वरूप है।

१६. उन्मनावस्था का आनन्द भी भगवद्धाम का ही स्वरूप है।

१७. कैवल्यावस्था का चैतन्य घन भगवद्धाम का ही स्वरूप है।

१८. प्रेमाद्वैत की स्थिति ही भगवद्धाम है।

१९. सब भाँति की सर्व त्रिपुटियों के न रहने पर जो स्थिति होती है वही भगवद्धाम का स्वरूप है।

२०. सम्पूर्ण सृष्टि के समस्त जीव, महाप्रलय हो जाने पर यहाँ निवास करते हैं वही भगवद्धाम है।

२१. मन के मौन हो जाने पर की आत्म-स्थिति को भगवद्धाम कहते हैं।

२२. भगवान एक पाद-विभूति तथा त्रिपाद-विभूति के बाहर-भीतर अणु अणु में व्याप्त हैं अर्थात् पूर्णतया निवास करते हैं इसलिये सब का सब विश्व और अविश्व भगवद्धाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

२३. जीव और प्रकृति भगवान का शरीर होने के सम्बन्ध से भगवद्धाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिये अहं और मम को सर्वथा शून्य कर भगवद्धाम के अतिरिक्त अन्य का आभास नहीं होना चाहिये।

२४. अखिल विश्व में भगवद्धाम मई दृष्टि उत्पन्न हो जाने पर द्रष्टा नित्य भगवद्धाम में ही निवास करता है।

२५. भगवान के नाम, रूप, लीला, और धाम चारों सच्चिदानन्दमय एक ही परम तत्व हैं।

—: • :—

श्री जी का वैभव

१. संसारी जीवों को भगवत्-प्राप्ति, श्री जी को पुरुषकार रूप में वरण करने से होती है।

२. भगवान भी श्री जी के पुरुषकारत्व की अपेक्षा रखते हैं।

३. श्री जी के कृपा-कटाक्ष-बिना जीव को भौतिक ऐश्वर्य, आत्म-दर्शन और भगवत्-प्राप्ति स्वप्न में भी संभव नहीं होती।

४. महा महिम्न भगवान की महिमा श्री-पतित्व पद में प्रतिष्ठित होने से ही है।

५. श्री जी सर्व श्रेयस्करी सर्वेश्वरी हैं।

६. श्री जी ही सबकी धारक और पोषक हैं।

७. श्री जी उद्भव, स्थिति और संहार करने वाली अनन्त ब्रह्माण्डों की नायिका हैं।

८. भगवान की यावत-लीला है वह सबकी सब यथार्थ में श्री जी की लीला है।

९. भगवान के पारतन्त्य और अनन्यार्हत्व की अत्यन्त अपेक्षा श्री जी में है जिसके बल से भगवान से प्रार्थना एवं पुरुषकार कर करके कृपामई सम्पूर्ण जीवों के कल्याण में सदा संलग्न रहा करती हैं।

१०. अपने दिव्यातिदिव्य गुण समूहों एवं सौंदर्यादि काय-सम्पत्तियों के द्वारा भगवान को स्ववश करके भी जीवों के कल्याण को श्री जी सर्वदा किया करती हैं।

११. "श्री" शब्द की श्रुणोतीति श्रीः, श्रावयतीति श्रीः व्युतपत्तियों के अनुसार श्री जी सर्व देश-काल में जीवों के दुख

को स्वयं श्रवण कर भगवान को श्रवण कराती हैं जिससे दया-सिन्धु, कृपा परवश होकर जीव मात्र के कल्याण के लिए सर्वदा कटिबद्ध बने रहते हैं।

१२. श्री शब्द की श्रयते और श्रीयते व्युत्पत्तियों के अनुसार श्री जी आश्रयण करती हैं और आश्रयण की जाती हैं अर्थात् जीवों का कल्याण करने के लिये भगवत् आश्रयण आपको नित्यापेक्षित है तथा जीवों को नित्य अपने चरणों में आश्रय देना भी जीवों के कल्याण के लिए ही आपको सहजापेक्षित है।

१३. श्री जी, भगवान को परम आह्लाद प्रदान करने वाली उनसे अविना भूता उनकी ही अचिन्त्य आह्लादिनी शक्ति हैं।

१४. श्री जी के बिना भगवान का अस्तित्व उसी प्रकार अगोचर रहता है जैसे जल के बिना मीन का अर्थात् भगवान श्री मय उसी प्रकार हैं जैसे मछली जल मय है।

१५. श्री जी जीवों का पुरुषकारत्व करने के लिए ही सर्व देश, सर्वकाल और सर्वावस्थाओं में भगवान के निकटतम प्रान्त में बनी रहती हैं।

१६. "श्री" सीताजी का प्रभु से प्रथम विश्लेष स्व कृपा प्रकाशन के लिए है। मध्यम विश्लेष पारतन्त्र्य प्रकाशनार्थ है और अंतिम विश्लेष अनन्यार्हत्व प्रकाशन के लिए है एवं श्री विदेह राज नन्दिनी सीता जू में समस्त श्रेय गुणों के समुच्चय का प्रकाशन सुस्पष्ट देखा जा सकता है।

१७. श्री जी जगज्जननी हैं, अस्तु जीवों के लिये अनन्त माताओं का प्यार उनके हृदय में समाहित है।

१८. श्री जी की गोष्ठी (माता मैथिली जी की गोष्ठी) ने भगवान (राम जी) की गोष्ठी को विलज्जित बना दिया है।

१९. जयन्त तथा निश्चरियों के पाप का चिन्तन न करके श्रीराम जी के ब्रह्मास्त्र तथा श्री हनुमान जी से निर्भय करना, क्षमा-विग्रहा करुणा वरुणालया श्री सीताजू के अतिरिक्त और किससे हो सकता है।

२०. श्री जी समस्त श्रेय गुणों से युक्त होने के कारण ही सर्व श्रेयस्करी सिद्ध होती हैं जो आप श्री के स्वरूप एवं नाम के अनुरूप हैं।

२१. श्री जी के गुणों पर रीझकर भगवान सदा उनके वश में बने रहते हैं और अपने सुख की सारभूता श्री जी को समझते हैं।

२२. महाभाव स्वरूपा प्रेममूर्ति श्री जी अपने प्रभु में तदाकार बनकर प्रभु को अपने आकार का बना लेती हैं।

२३. श्री जी रस रूपिणी हैं, रसिकेश्वर प्रभु उनका समग्र अनुभव करते हुए भी उनके रस-सिन्धु का अन्त नहीं पाते।

२४. श्री जी विषय और आश्रय दोनों हैं इसलिये भगवान और श्री जी में सर्व भावेन भेद का अभाव है।

२५. जो श्री जी हैं सो भगवान हैं, जो भगवान हैं सो श्री जी हैं।

२६. लीला कार्य (संसार-संचालन) करने की यावत् शक्तियाँ है उन सबको, अचिन्त्य एवं अनन्त सामर्थ्य की समुद्र स्वरूपा श्री जी से ही शक्ति संप्राप्त है।

२७. श्री जी की शक्ति के बिना अग्नि, पवन, जल अपने स्वभाव का नाम मात्र प्रभाव-प्रकाशन नहीं कर सकते, पृथ्वी में स्थैर्य और क्षमा तथा आकाश में अनन्त अवकाश और महानता श्री जी की इच्छा शक्ति से ही है।

२८. प्राण को प्राणित करना तथा जीव को जीवन देना श्री जी की ही शक्ति का कार्य है।

२९. श्री जी के आंशिक वैभव से समस्त संसार के श्रीमन्त, श्रीमान् पद पर प्रतिष्ठित है।

३०. भगवान की काय सम्पत्ति तथा समस्त श्रेय गुणों की सम्पदा वस्तुतः श्री जी की ही है।

❋ इति ❋

अनन्त श्री विभूषित श्री स्वामी रामहर्षण दास जी महाराज के अनमोल भक्ति साहित्य

१—वेदान्त दर्शन
२—श्री प्रेमरामायण
३—लीला सुधा सिन्धु
४—गीता ज्ञान
५—सिद्धि स्वरूप वैभव
६—औपनिषद ब्रह्मबोध
७—रस चन्द्रिका
८—सिद्धि सदन की अष्टयामीय सेवा
९—चिदाकाश की चिन्मयी लीला
१०—प्रपत्ति प्रभा स्तोत्र
११—पंच शतक
१२—ध्यान बल्लरी
१३—विनय वल्लरी
१४—प्रेम वल्लरी
१५—विरह वल्लरी
१६—वैदेही दर्शन
१७—मिथिला माधुरी
१८—हर्षण सतसई
१९—उपदेशामृत
२०—आत्म विश्लेषण
२१—वैष्णवीय विज्ञान
२२—प्रपत्ति दर्शन
२३—विशुद्ध ब्रह्मबोध
२४—लीला विलास
२५—राम राज्य
२६—विवाहाष्टक

❖

प्रकाशन विभाग, श्रीरामहर्षण कुंज, नयाघाट, श्री अयोध्या, जिला फैजाबाद (उ० प्र०)

ग्रन्थ उपलब्धि स्थान :

(१) श्री रामहर्षण कुञ्ज
परिक्रमा मार्ग, नयाघाट
श्री अयोध्या जी, जि० फैजाबाद (उ० प्र०)

(२) श्री सीताराम मन्दिर
श्री रामहर्षण कुञ्ज
पी० टी० एस० चौराहा, रीवा (म० प्र०)


श्री सद्गुरु ग्रंथ सेवा